सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-282002 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 45, अंक : 9, दिसम्बर 2012

अमृत कण

अहम् सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा: भावसमन्विता।।

(गीता 10/8)

मैं (भगवान) ही सबका उत्पत्ति-स्थान हूँ और समस्त जगत् की मुझ (भगवान) से ही प्रवृत्ति होती है, यह मानकर बुद्धिमान् भावसम्पन्न पुरुष अपने (सब कर्मों द्वारा सर्वत्र सदा) मेरा ही भजन सेवन करते हैं।

◆ ◆ ◆

रुचं नोधेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।

(यजुर्वेद)

जैसे परमात्मा पक्षपात न करके सभी वर्ग के प्राणियों से समान रूप से प्रीति करता है, वैसे ही हम सब मिलकर, ब्रह्मवेत्ता विद्वान, राजकीय व्यक्ति, व्यवसायी और सेवायें प्रदान करने वाले सभी नागरिक परस्पर रुचि और प्रीति पूर्ण व्यवहार करें।

◆ ◆ ◆

तदात्वे चानुबन्धे वा यस्य स्यादशुभं फलम्।
कर्मणस्तन्न कर्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम्।।

(चरक संहिता)

कार्य करते समय, तत्काल या भविष्य में, जिसका फल अशुभ अर्थात् हानिकारक हो, इसका विचार करके, ऐसे काम कदापि नहीं करना चाहिए। यह बुद्धिमानी का सिद्धान्त है।

◆ ◆ ◆

अवशेन्द्रिय चित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाभरण प्रायो ज्ञानं भारः क्रिया विना।।

(हितोपदेश)

जिनके वश में चित्त और इन्द्रिय नहीं है उनकी क्रिया (कर्म) हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है। बिना आचरण किये ज्ञान बोझ के समान है जैसे कुरूप स्त्री के पास आभूषण।

◆ ◆ ◆

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 45 दिसम्बर 2012 अंक : 9

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्त-
स्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।

ईशावास्योपनिषद्-5

वे परमेश्वर अचल एक और मन से भी अधिक तीव्र गतियुक्त हैं; सबके आदि ज्ञानस्वरूप या सबके जानने वाले हैं; इन परमेश्वर को इन्द्रादि देवता भी नहीं पा सके या जान सके हैं; वे परब्रह्म पुरुषोत्तम दूसरे दौड़ने वालों को स्वयं स्थिर रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके होने पर ही उन्हीं की सत्ता शक्ति से वायु आदि देवता जलवर्षा आदि क्रिया सम्पादन करने में समर्थ होते हैं।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवाँई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	8
3.	ज्ञान की सात भूमिकाओं में छुपा योग – डॉ. जे.पी. शर्मा	11
4.	जयसिंह जादौन की प्राण रक्षा – जगदीश राए बंसल	17
5.	गीतामृत पदावली	21
6.	योग–आसन – स्वस्तीक आसन	24
7.	संकल्प का मन और प्राण पर प्रभाव – श्री सूरज प्रकाश शर्मा	25
8.	योगाभ्यासी के जीवन में संगासंग – श्री वीरेन्द्रस्वरूप	28
9.	खोल दो दरवाजा गुरुजी – जगदीश राए बंसल	31
10.	योगयुक्त साधक की अवस्था – डॉ. राजकुमारी त्रिखा	32
11.	वैराग्य – प्रो. ऋषिराम शर्मा	36
12.	आश्रम समाचार	40

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 150.00
द्विवार्षिक	: रु. 280.00
आजीवन (10 वर्षीय योजना)	: रु. 900.00

• विशेष लेख

निरोध एवं वृत्ति सारूप्य

योग–योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

पातंजली योग दर्शन के कर्ता भगवान पातंजली ने योग दर्शन के प्रारंभ में ही **'अथ योगानुशासनम'** इस सूत्र के बाद दूसरे 'सूत्र' **योगाश्चित वृत्ति निरोध:** कहकर योग की सही परिभाषा लिखी है। योगाभ्यास करने वाला साधक क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ एवं एकाग्र रूप चित्त भूमिकाओं से निकलता हुआ निरोधावस्था को प्राप्त होता है। यही जीवात्मा की कैवल्य स्थिति है। दूसरे शब्दों में इसी का नाम निर्जीव समाधि है एवं स्वरूप स्थिति कहा गया है। निरोध समाधि में जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है, इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए भगवान पातंजली देव ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया **'तदाद्रष्टु स्वरूपे व स्थानम'** अर्थात् समाधि स्थिति में जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थिति रहा करता है स्वरूप स्थिति क्या चीज है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान व्यास देव ने इस सूत्र के भाष्य में केवल मात्र एक छोटी सी पंक्ति लिखी है।

स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीम् चिति शक्तिर्यथा कैवल्ये अर्थात् तदानी स्थिती स्वरूप प्रतिष्ठा तावत् की दृशी यथा कैवल्ये चितशक्ति: भवति।

अर्थात् उस निरोध समाधि में जिसका नाम निर्जीव स्थिति व स्वरूपा व स्थान के रूप में वर्णन किया है। उस स्थिति में चित्त शक्ति अर्थात् जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है, इसका उत्तर केवल मात्र दो ही शब्दों में दिया गया कि – यथा कैवल्य मोक्ष में जीवात्मा हुआ करता है, उसी का नाम स्वरूप स्थिति कहा गया है उस स्थिति में पहुँचने पर जीवात्मा के सब दु:ख द्वन्द्व छूट जाते हैं और उसका स्व. स्वरूपावस्थान हो जाता है। यहाँ पर एक प्रश्न पैदा होता है। हमारे शास्त्रों में एवं श्री मद्भगवद्गीता में अखिल लोक पवन जगदात्मा श्री कृष्ण ने अछेद्य अभेद्य आदि कहकर इसको विकाररहित बतलाया है –

कि इस आत्मा को शस्त्र काटते नहीं हैं अग्नि जलाती नहीं है पानी इसको गीला नहीं करता वायु सुखा नहीं सकता यह अछेद्य है अदाह्य है अक्लेद्य एवं अशोष्य है यह आत्मा सर्वत्र ओत-प्रोत रहने वाला निश्चित अचल और सनातन है यह अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकारी कहा गया है यह सब आत्मा के स्वरूप की बातें समझाकर भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को सीधे और स्पष्ट शब्दों में कह दिया।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानू शोचितु मर्हसि।

अर्थात् – हे अर्जुन इस आत्मा के उपरोक्त उपदेश को सुनकर एवं अन्यान्य

औपनिषदिक सिद्धांत को समझा कर आत्मा की स्थिति निर्विकार एवं सब प्रकार से शुद्ध है। किन्तु योग दर्शन के **तदा दृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्** पर भाष्य लिखते हुए समाधि में आत्मा की स्वरूप स्थिति बतला कर 'व्युत्थान चित्तु सति तथापि भवन्ति न तथा, अर्थात् व्युत्थान चित्त में चित्त शक्ति अछेद्य, अभेद्य रहते हुए भी वैसी नहीं होती, क्योंकि वह दर्शित विषया बन जाती है इस स्थिति को भगवान पातंजली देव ने वृत्ति सारूप्य कहा है। यथा '**वृत्ति सारूप्य मितरत्र**' अर्थात् इतरत्र व्युत्थानावस्था में चैतन्य आत्मा को वृत्ति सारूप्य हो जाता है। निरोध जैसी स्थिति नहीं रहती ऐसी स्थिति में विकार रहित शुद्ध चेतन आत्मा विकारी सा दीखने लगता है और वह अपने सब कार्य बुद्धि बोध के अनुसार किया करता है। स्वरूपोपलब्धि ही के बहुत से उपायों का वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है किन्तु ऊँची-ऊँची ज्ञान भूमिकाएँ एवं निर्जीव समाधि में भी पहुँच जाने के बाद भी ज्यों ही चेतनशक्ति बुद्धि बोध को प्राप्त होती है त्यों ही वह वृत्ति सारूप्य होने से जैसे जिसकी अन्त:करण की वृत्ति होती है वैसे ही वह प्राणी चेष्टायें करने लगता है गीता में भगवान श्री कृष्ण ने इसका संकेत '**सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकर्तेज्ञान वानपि**' कह कर दिया है, **प्रकृति यान्ति भूतानि निगृहः किं करिष्यति** अर्थात् ज्ञानी पुरुष भी अपने आपको नित्य शुद्ध बुद्ध मनन करते हुए भी जैसा उसका बुद्धि बोध है वैसी-वैसी हरकतें किया करता है।

यही कारण है बड़ी ऊँची स्थिति को प्राप्त हुए महात्माओं के चरित्र उनकी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार दिखलाई देते हैं। भगवान राम की मर्यादा पुरुषोत्तमता जगदात्मा श्रीकृष्ण की लीला उनकी अपनी स्वीकार की गयी कृति की परिचायक है मेरे गुरुदेव योग योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज वृत्ति सारूप्य का पूरा-पूरा स्वरूप समझा देने वाला एक उदाहरण अपने मुखारविंद से बतलाया करते थे, वृत्ति सारूप्य के स्वरूप को समझाने के लिए मैं उसको यहाँ लिख देना उचित समझता हूं।

सुंदरसिंह डाकू का उदाहरण – ऋषि से लगभग 7 या 8 मील ऊपर भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर ब्रह्मपुरी नाम का एक जंगल है हिमालय की यात्रा करते हुए सबसे प्रथम ऋषिकेश से चलने के बाद मेरे गुरुदेव योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज ने कुछ समय इस जंगल में निवास किया था। जिन दिनों श्री प्रभुजी इस वन में निवास किया करते थे उन्हीं दिनों महात्मा कृपालानंद नाम के एक सिद्ध योगीराज भी निवास किया करते थे उन्होंने अपने आपको शिवमय बना लिया था।

भगवान शिव की शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार था वे महात्मा अणिमादिक ऐश्वर्यों से सब प्रकार से परिपूर्ण एवं कर्तुमाकुर्तम अन्यथा कर्तुम की ताकत वाले सर्व-समर्थ महात्मा थे। उन्हीं दिनों सुंदरसिंह नाम का एक डाकू कहीं से डाका मारकर कई हजार का सुनहरी जेवरात लूटकर यहाँ लाया। वह चाहता था कि उस कीमती जेवर को कहीं जंगल में छिपा दे और समय आने पर पुन: वहाँ से निकाल ले जायें उस डाकू का कोई पूर्वपुण्य उदय हुआ। जिसके

फलस्वरूप कहीं से घूमते हुए योगीराज श्री कृपालानंद जी अकस्मात उधर से आ निकले उन्होंने उस डाकू की उस क्रिया को देख लिया और उससे कहा कि तू यह क्या कर रहा है? उसने जवाब दिया कि महाराज मैं डाकू हूँ डाका मारकर कुछ धन यहां ले आया हूँ और उसको यहाँ दबा रहा हूँ ताकि कालान्तर में आवश्यकता पड़ने पर मैं यहां से निकाल ले जाऊं। महाराज मैं डाकू हूँ और यह मेरी वृत्ति है। योगीराज श्री कृपालानंद जी को उसकी सत्यवादिता एवं विनय पर स्वाभाविक प्रसन्नता आ गयी और उन्होंने कहा कि डाकू क्या तू हमारी इस आज्ञा से इस कुकर्म को छोड़ देगा और जो कुछ हम कहेंगे वह काम करेगा। उस डाकू ने योगीराज की इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया और निःसंकोच कह दिया कि प्रभो! आप जो भी कुछ कहेंगे मैं उसका सदा सर्वथा बिल्कुल पालन करने को तैयार हूँ, आज्ञा कीजिए कि मैं क्या करूं?

योगीराज कृपालानंद ने किसी पूर्व पुण्य वश उस डाकू के विनय पूर्वक वचनों को सुनकर आज्ञा दी कि अच्छा यह जितना जेवर तुम यहीं छुपाने के लिए लाये हो उसको उठा लाओ और हमारे साथ चलो। उस डाकू ने अपना सौभाग्य समझकर तत्काल योगीराज की आज्ञा को मान लिया और सुनहरी जेवर की गठरी को उठाकर उनके साथ चल दिया महात्मा उसको गंगा किनारे ले गये और वहां ले जाकर आज्ञा दी कि अच्छा अब इस सब जेवर को यहां से गंगाजी में ही फेंक दो। डाकू ने योगीराज की आज्ञा को मानकर सब जेवर गंगाजी में फेंक दिया और स्वयं निर्द्वन्द हो गया। योगीराज श्री कृपालानंद जी की अहैतुकी कृपा से उसी समय से वह सम्प्रज्ञात का विद्यार्थी बन गया और उत्तरोत्तर उसका आत्मोत्थान होने लगा। योगीराज कृपालानंद जी ने उस सुंदर सिंह नाम के डाकू को योगीराज सुंदर गिरी नाम में परिवर्तित कर दिया। शनैः-शनैः अपने तीव्रतम योगाभ्यास एवं शुभाचरण के फलस्वरूप वह अणिमादिक सकल ऐश्वर्यों को पा गया किन्तु योगीराज सुंदरगिरी के सर्व समर्थ हो जाने के बाद ही वृत्ति सारूप्य के फलस्वरूप जिस समय वह अपनी निर्जीव समाधि से उठकर वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होते त्योंहि अपने डाकू स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते थे क्योंकि **स्वभावोहि दुःस्त्यजः** पुंसाम क्योंकि स्वभाव एक प्रकार से वृत्ति सारूप्य ही है। इसी बात को संकेत करते हुए भगवान जगदात्मा श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कह दिया है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यसि नशोऽपि तत्।।

अर्थात् – हे अर्जुन मनुष्य अपने स्वभाव से निबद्ध है। जिस कर्मों को तू मोहवश नहीं करना चाहता, वे सर्व कर्मवश होकर तुम्हें करने ही पड़ेंगे। यह नियम साधु महात्मा सन्यासी एवं साधारण जीव सभी पर सामान्य रूप से लागू है।

योगी सुंदरगिरी का हरिद्वार कुंभ में आगमन

योगीराज कृपालानंद के परमानुगृह से डाकू सुंदर सिंह के स्वरूप से बदल कर परिवर्तित होने वाले योगी सुंदरगिरी एक बार हरिद्वार कुंभ में आये। कई सौ की तादाद में उनकी

शिष्य मंडली उनके साथ थी। इतने बड़े समुदाय के लिए अन्न क्षेत्र की बड़ी भारी आवश्यकता थी। योगी सुंदरगिरी ने देखा कि इस कुंभ के मेले में कोई एक बड़े धनिक आये हुए हैं जिनसे इस अभाव की पूर्ति करानी चाहिए। योगी सुंदरगिरी सर्व समर्थ थे, चाहते तो उन सेठजी के मन में प्रेरणा करके भी उस काम को करा सकते थे। किन्तु उन्होंने वैसा न करके अपने एक शिष्य के द्वारा एक आज्ञापत्र लिख कर भेज दिया कि इतनी बोरी खांड, इतनी बोरी आटा, इतने कनस्तर घी के, इतना साग–सब्जी व अन्यान्य सामान तत्काल भेज दो। सेठ जी ने इतने बड़े सामान को भेजने में जब आनाकानी की तो योगी सुंदरगिरी ने प्राणार्षिणी विद्या से उनके प्राणों को खींचना प्रारम्भ कर दिया और जो काम साधारण प्रेरण मात्र से कराया जा सकता था उसको कठिन आकर्षण से जबरदस्ती कराया। इसी का नाम वृत्ति सारूप्य है।

सर्वसाधारण प्राणी वृत्ति सारूप्य में रहा करते हैं। केवल मात्र युक्त योगी जिसने अपने कठिन प्रयास से निर्जीव समाधि को प्राप्त कर लिया है। वह ही देह धारण करते हुए भी निर्जीव समाधि में स्वरूपा व स्थित होते हैं। जो लोग बिना परिश्रम के एवम् बिना तपश्चर्या के सिद्धानुग्रह को पाकर उच्चतम स्थितियों को पा जाया करते हैं, वे वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होकर अपने स्वभाव वश पाप पुण्य के झमेले खरीद लिया करते हैं। इसलिए जहाँ योगी अपने समाधि रूप चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। वहाँ अपने क्लिष्ट वृत्तियों के नाश करने के लिए तीव्रतम तपश्चर्या अथवा योगांगों के अनुष्ठानों की उसे भारी आवश्यकता रहती है। जिससे इस शरीर के अंदर रज–तम के क्षय हो जाने के बाद सतोमयी शुभ वृत्तियों का उदय हो जाये जिससे वृत्ति सारूप्य काल में उससे शुभ कार्य ही हो सके।

वैसे मनुष्य के जीवन में क्लिष्टाकृत वृत्तियों का उत्थान पतन प्रायः होता ही रहता है किन्तु उस व्यक्ति का पुरुषार्थ सफल है जिसने अपनी मनोवृत्तियों को क्लिष्टता से निकाल कर अपने आप को शुभ वृतीक बना लिया है। जिसकी वृत्ति बिना ही समाधि के दम्भाकार बनी रहती है एवं जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है वह व्यक्ति देह धर्मों के अंदर रहता हुआ भी मुक्त आत्मा है। और उसने आप को पतन से परे निकाल लिया एवम् कृतार्थ बना लिया है वह हर कार्य करता हुआ भी कुछ नहीं करता एवम् सब प्रकार के कर्मबंधन से परे है। स्थित प्रज्ञ पुरुष के लक्षण गीता में भगवान श्री कृष्ण ने बहुत ही सुंदर शब्दों में लिखे हैं सर्व हितार्थ उनका यहाँ लिख देना बहुत ही समुचित मालूम देता है। अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से स्थिति प्रज्ञ के लक्षण पूछे वे इस प्रकार हैं–

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थित धी: किं प्रमासेत किमासीत व्रजेत किम्।।

अर्थ – हे प्रभो स्थित प्रज्ञ समाधिस्थ पुरुष के क्या लक्षण हैं। स्थित प्रज्ञ कैसे चलता है कैसे बैठता है जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन के इस पवित्र प्रश्न को सुनकर उसका उत्तर इस प्रकार दिया, अर्थात् जिस समय मनुष्य अपनी मनोगत सर्वकामनाओं को छोड़ कर एवम्

अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहता है तभी वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है। दु:खों में जिसका मन दु:खी नहीं होता और सुखों की जिसे इच्छा नहीं होती जिसके मन में राग भय क्रोध निकल गये हैं वह मुनि स्थिति प्रज्ञ कहा गया है। जो व्यक्ति सर्वत्र, स्नेह रहित रहता है अच्छा या बुरे शुभ--अशुभ फल को पाकर न किसी प्रकार का दुख मानता है न खुश होता है। वह अवश्य स्थित प्रज्ञ है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेटकर अपने अंदर कर लिया करता है उसी प्रकार जिस व्यक्ति ने अपनी सारी इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों से हटाकर अपने वश कर लिया है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। जो व्यक्ति निराहार रहता है उसकी वासना नष्ट प्राय: हो जाती है किन्तु विषयों में क्या आनन्द होता है। इस रस की भावना पर दर्शन के बाद ही निवृत होती है।

विद्वान पुरुष इन्द्रिय जय का प्रयत्न करते हैं किन्तु उनके यत्न करने पर भी इन्द्रियों का बल इतना बड़ा है कि बलात् विद्वानों के मन को भी हर लेती है। इन्द्रियों को संयम में लाकर और चित्त को समाहित करके जो व्यक्ति मृतपरायण है और इन्द्रियां जिसके वश में है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है जो पुरुष विषयों का चिंतन करते हैं वह विषय संगी बन जाते हैं और विषय संग से मन में काम पैदा हो जाता है और कामना के पूर्ण न होने से क्रोध बढ़ जाता है और क्रोध से मुनष्य, संमोह को प्राप्त होता है और संमोह रूप मूढ़ता से स्मृति भ्रंश और स्मृति भ्रंश से बुद्धि नाश और बुद्धि के नाश हो जाने से अवश्य नष्ट हो जाता है।

सारी कामनाओं को छोड़कर जो पुरुष नि:स्पृह ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर विचरता है वही शान्ति को प्राप्त करता है।

हे अर्जुन यही पवित्रतम स्थिति है जिसको पाकर मनुष्य कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता और इसमें स्थित रहने वाले व्यक्ति अन्त में ब्रह्म निर्वाण मोक्ष को प्राप्त होता है।

● ● ●

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्।।
व्याघ्रबुद्धया विनिर्मुक्तो बाण: पश्चात्तु गौमतौ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्।।

लक्ष्य की ओर छोड़ दिये गये बाण के समान ज्ञान के उदय से पूर्व ही आरम्भ हुआ कर्म अपना फल दिये बिना ज्ञान से नष्ट नहीं होता, जैसे व्याघ्र समझकर गौ की ओर छोड़ा हुआ बाण पीछे उसको गौ जान लेने पर भी बीच में नहीं रोका जा सकता वह तो तुरंत अपने लक्ष्य को बेध ही देता है।

• सम्पादकीय

योग साधना एवं सिद्धियाँ

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

योगसाधना में सिद्धि शब्द अत्यन्त व्यापक है। उसकी व्यापकता के कारण ही विभिन्न रुचि एवं मत वाले व्यक्तियों के अनुसार इसके अर्थ में भी भिन्नता आ जाती है। वैसे तो सिद्धि शब्द का शाब्दिक अर्थ है किसी कार्य की पूर्णता को पा लेना। मनुष्य की असंख्य कामनायें हैं और उनकी पूर्ति के लिए ही वह अहर्निश लगा रहता है। इच्छाओं की पूर्णता के लिए वह अनेक प्रकार के वैदिक अनुष्ठान करता है व्रत एवं उपासनाओं में लगा रहता है। तान्त्रिक अनुष्ठानों का अवलम्ब लेता है अपने पुरुषार्थ, संयम एवं महापुरुषों की कृपा के अनुपात से उसे सिद्धि भी मिला करती है। यहाँ पर हम अन्य सिद्धियों की बात न कहकर केवल योग साधना से प्राप्तिव्या सिद्धियों पर ही चर्चा करेंगे।

योग शास्त्र में सिद्धि शब्द के पर्याय के रूप में विभूति, ऐश्वर्य, आत्मबल, मानसिक शक्ति आदि–आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। योग में जो सिद्धियाँ आती हैं उन सब का आधार पूर्णतया मन की एकाग्रता ही है। वैदिक वाङमय एवं पुराणों में यह बात प्रसिद्ध है कि ईश्वर अपने संकल्प से ही सृष्टि की रचना करते हैं। इस बात से यह सिद्धान्त प्रमाणित हो जाता है कि उस परम चेतना अंशी का अंशरूप मानव में भी यह सामर्थ्य विद्यमान है। योगियों ने इसी सिद्धान्त को समझकर ही मानव मन को समस्त शक्तियों का केन्द्र माना है। जीवों के मानस शक्ति के विभिन्नता के कारण ही विभिन्न शरीर एवं लोकों का निर्माण हुआ है। शरीरों से ही मानसिक शक्ति की अभिव्यक्ति हुआ करती है।

असंख्य ब्रह्माण्ड एवं अनन्त लोक हैं। इनमें रहने वाले जीवों की क्षमता, व्यवहार एवं जीवन दूसरे लोक के जीवों से भिन्न है। किन्तु हमारे इस पृथ्वी लोक की एक विशेषता यह है कि इसमें सभी लोकों के जीव के सदृश गुण, स्वभाव एवं शक्ति वाले मानव रहा करते हैं। हमारे पूज्यपाद गुरुदेव महाराज कहा करते थे कि पृथ्वी लोक परचून की दुकान की तरह है यहां थोड़ी थोड़ी वे सभी वस्तुएँ मिल जाती हैं जिनके लिये एक एक अलग लोक की व्यवस्था बनी हुई है। दूसरे सामान्य शब्दों में कहा जाये तो कह सकते हैं कि यहाँ पर स्वर्ग, नरक आदि समस्त लोक विद्यमान हैं। इसी कारण से हमारे इस मर्त्य लोक में कीट पतंगे जैसे सामान्य जीव से लेकर सर्वसमर्थ योगी एवं अवतार वास किया करते हैं। वस्तुतः सृष्टि वैचित्र्य ही ईश्वर का सबसे बड़ा चमत्कार है। मानव जीवन भी इसी चमत्कार का एक अभिन्न अंग है। हम लोग अपने जीवन से इतने आत्मसात् हो चुके होते हैं कि हमें अपना जीवन आश्चर्यजनक नहीं लगता। यदि सामान्य मनुष्य को सशरीर पृथ्वी से इतर उच्च लोकों में ले जाया जाये तो वहाँ रहने वाले जीवों के

शरीर, जीवन एवं सामर्थ्य–ऐश्वर्य को देखकर वह बहुत आश्चर्य में पड़ जायेगा। इसी तरह से मनुष्य लोक में ही यदि चींटी जैसे क्षुद्र जीव को मनुष्य जीवन के वैभव व क्षमता का ज्ञान हो जाये तो उसके लिए यह बहुत ही आश्चर्य की बात होगी।

सृष्टि वैचित्र्य का एक मूल कारण चेतना के विकास की भिन्नता ही है। जीवों के ज्ञान एवं क्षमता के आधार पर ही उनकी संकल्प शक्ति में भी अन्तर आ जाता है। एक कीट से लेकर ब्रह्म पर्यन्त आत्मत्वेन एक होने पर भी चेतना भेद से उनको मनस्तर एवं अन्तःकरण में अन्तर है। हमारे मानव जगत में भी सबकी शारीरिक संरचना एक जैसी होने पर भी व्यक्तियों के चिन्तन शक्ति, मानसिक क्षमता एवं संकल्प शक्ति में अन्तर रहता है। नारकीय लोकों से आये हुए प्राणी मानव रूप में होते हुए भी अत्यन्त कटु भाषी अविनीत, दुष्टों का संग वाले तथा पर पीड़ा में प्रसन्न रहने वाले एवं अनात्म वस्तुओं से प्रीति करने वाले होते हैं। ऐसे व्यक्तियों की संकल्प शक्ति फलवती नहीं हुआ करती है। इसके विपरीत जो उच्च स्तर के सात्विक लोकों से आये हुए देवता तथा पूर्वजन्म के योगाभ्यासी भी मनुष्य के रूप में होते हैं। किन्तु उनकी मानसिक क्षमता एवं संकल्प शक्ति साधारण मनुष्य से उच्चस्तरीय होती है। स्वर्गादि लोकों में रहने वाले देवताओं का सारा कार्य संकल्प से ही चलता है। इच्छा मात्र से सांसारिक भोग एवं विषयों को प्राप्त कर लिया करते हैं। किन्तु मर्त्यलोक में मानव को पुण्य एवं पुरुषार्थ से ही भोगों की प्राप्ति हुआ करती है। यह तो रही देवताओं की बात किन्तु उसमें यह सामर्थ्य प्रायः तभी तक होती है जब तक वे उस लोक में निवास करते हैं अथवा उस देवयोनि में रह रहे हैं। उस शरीर अथवा लोक के छूट जाने पर उस सामर्थ्य का सब में बना रहना आवश्यक नहीं। योगियों के सामर्थ्य एवं संकल्प शक्ति की कोई सीमा नहीं। योगी मनुष्य लोक में रहता हुआ भी देवताओं की श्रेणी से बहुत आगे होता है। सम्पूर्ण प्रकृति पर योगी का अधिकार होने के कारण अपनी इच्छा मात्र से सृष्टि निर्माण–संहार आदि में सक्षम होता है। विश्वामित्र ऋषि ने अपने तप एवं संकल्प के बल से नव सृष्टि का निर्माण किया यह सर्वविदित है। योग दर्शन के विभूति पाद में योगी के योगेश्वर्य का विस्तार से वर्णन किया गया है।

योग साधना का अधिकारी मनुष्य मात्र है और इस साधना का उद्देश्य है जड़ एवं चेतन के सम्पूर्ण भेद का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर अपने को मुक्त व स्वच्छ बना लेना। मानव योगी बनने की इच्छा करता है। अपने प्राक्तन संस्कार, संसर्ग व वातावरण के भेद से मुमुक्ष साधकों की इच्छायें अनेकधा बँटी हुई होती हैं। कोई–कोई संस्कार वशात् सीधे आत्मतत्व की पकड़ में ही लगा रहता है उसे ही अपनी साधना का मुख्य लक्ष्य व केन्द्र बिन्दु मानता है। ऐसे साधक, "मनुष्याणाँ सहस्त्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये" के अनुसार बहुत कम होते हैं। दूसरे श्रेणी के साधक वे होते हैं जो मुमुक्षु तो अवश्य होते हैं। किन्तु संस्कारों की दुर्बलता से अथवा कामनाओं के वशीभूत हो जाने पर साधना जन्य अलौकिक लाभ के फलश्रुति से अभिभूत होकर आत्म दर्शन के प्रधान कर्म को गौण बना लेते हैं और सिद्धियों की प्राप्ति मान ऐश्वर्य वैभव आदि को

सर्वाधिक महत्व देकर उसे मुख्य कार्य समझ कर कर्म में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे व्यक्तियों का उद्देश्य समाज में अपनी शक्ति, ऐश्वर्य एवं कीर्ति को प्रकाशित करना मात्र रह जाता है। ऐसे साधक मन की एकाग्रता को पाने वाले होकर योग भ्रष्ट कहलाते हैं पुनः शरीर ग्रहण कर साधना में प्रवृत्त होते हैं ऐसे साधकों में एकाग्रजन्य पुण्य के प्रभाव से विशिष्ट मानसिक शक्तियाँ जन्मजात होती हैं। पुनः '**लभते च पौर्वदेहिकम्**' इस भगवद् वचन के अनुसार पूर्वजन्म की सारी यौगिक कमाई उसे मिल जाती है। पुनः योग की भूमिकाओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है।

गीता में भगवान ने मनुष्यों की रुचि एवं संस्कार के अनुसार ही उनकी साधना भेद का वर्णन किया है। शुद्ध सात्विक संस्कार वाले लोग देवताओं का भजन पूजन करते हैं और फलस्वरूप इन्हीं के लोकों में जाते हैं। पितरों को पूजने वाले पितर लोक को तथा भूत पिशाच की उपासना करने वाले देहपात के बाद उन्हीं योनियों को प्राप्त होते हैं। भगवान के भक्त योगी भगवान को ही प्राप्त करते हैं। मनुष्य जिस-जिस श्रेणी के उपास्य की उपासना करता है तज्जन्य संस्कारों से भावित होकर '**यं यं वापि स्मरन्भावम्**' के अनुसार उन्हीं के समुदाय अथवा लोकों को प्राप्त होता है। भूत-पिशाच आदि के शरीर पृथ्वी तत्व एवं जल तत्व रहित होने के कारण उनका शरीर सूक्ष्म है, अतः साधारण मानव जिन कार्यों को नहीं कर सकता वे सहज में ही कर दिखाते हैं। मनुष्यों में कुछ लोग उनकी उपासना करके चमत्कारी महात्मा कहलाये जाते हैं किन्तु अन्ततोगत्वा उनका अधःपतन ही होता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह केवल 'चमत्कार' में ही न फँस जाये अपितु आत्मदर्शन के लिए प्रयासरत रहे। जब तक कैवल्य लाभ न हो जाये तब तक साधनारत रहना चाहिए। चमत्कार तो प्रकृति का विषय है, विलास मात्र है। आत्मा में चमत्कार नहीं है। वह तो नित्य प्रकाश, ज्योति स्वरूप ज्ञान स्वरूप है। मल, विक्षेप एवं आवरण के हट जाने पर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। साधना का ध्येय आवरण को हटाना होता है। जो ध्यान योग के द्वारा ही संभव है।

●●●

न तस्य मिथ्यार्थसमर्थनेच्छा
न संग्रहस्तज्जगतोऽपि दृष्टः।
तत्रानुवृत्तिर्यदि चेन्मृषार्थे
न निद्रया मुक्त इतीष्यते ध्रुवम्।।

उसको (विद्वतजन को) न तो मिथ्या वस्तुओं को सिद्ध करने की इच्छा होती है और न उसके पास सांसारिक पदार्थों का संग्रह देखा जाता है। यदि फिर भी उसकी मिथ्या पदार्थों में प्रवृत्ति रहे तो निश्चय है कि वास्तव में उसकी नींद टूटी ही नहीं है।

ज्ञान की सात भूमिकाओं में छुपा योग

डॉ. जे. पी. शर्मा, पाँटा साहिब, जि. सिरमौर, हि.प्र.

ब्रह्माण्ड जगत का सृजन ज्ञान के कारण ही हुआ है। ''एकोऽहं बहुस्याम'' अर्थात् मैं अकेला हूँ, एक से अनेक बन जाऊँ। ब्रह्म को अकेले होने का आभास ज्ञान के कारण ही हुआ। सृष्टि के हर जीव को हर पल जीवनयापन के लिए ज्ञान का होना अत्यावश्यक होता है। ज्ञान के द्वारा छोटे से लेकर बड़े–बड़े कार्य आसानी से हो जाते हैं। ज्ञान के अभाव में जीव दर–दर भटकता रहता है। मानव ज्ञान के अभाव में देवों के दास बने रहते हैं। अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्राणी देवी–देवताओं की पूजा, अर्चना, भक्ति आदि करता आया है। अतः प्राचीनकाल से ही मानव अपने पुरुषार्थ और आत्मबल बढ़ाने का प्रयास करता आ रहा है। अपने आत्मबल से मानव देवताओं से शक्तियां प्राप्त करते हैं। हर मानव की उत्कंठा होती है कि वह भी अपने पुरुषार्थ के बल पर देवताओं जैसी शक्ति से ओत–प्रोत रहे। उसी के लिए निरंतर मानव प्रयत्नशील रहा है। अतः हर प्राणी का कर्त्तव्य है कि अपने पुरुषार्थ का विकास करे तथा देवत्व ही नहीं ईशत्व बनने का निरन्तर प्रयास करे। वही वीर साहसी साधक मनुष्य कहलाने के योग्य है। अन्यथा मानव देवों के पशु ही बने रहेंगे। भगवती श्रुति कहती है – **''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः''** अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है। यह ज्ञान क्या है? यह जानने की चेष्टा करनी चाहिए। संसार में दीखने वाली प्रत्येक लौकिक विद्या दुःखों की अधिक निवृत्ति और सुख की परावधि प्राप्त करवाने में सर्वथा असमर्थ है। यह सभी भलीभांति जानते हैं। फिर वह कौन सी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य कर्त्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य की सर्वोत्तम सिद्धि को साधकर कृतकृत्य हो सके? केवल सर्वोत्तम विद्या ब्रह्मविद्या ही कही गई है। उसी की सहायता से मनुष्य, मनुष्यत्व से देवत्व, देवत्व से ईशत्व प्राप्त कर सकता है। जगत का प्रत्येक अणु–सजीव या निर्जीव प्रतिक्षण उत्तरोत्तर शुद्ध होकर विकास कर रहा है। आध्यात्मिक जगत में विकास करने के इच्छुक साधक को अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इस देह चतुष्टय तथा मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार – इस अन्तःकरण चतुष्टय को शुद्ध करना परमावश्यक है। शुद्धि होने पर सत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। सत्य का ज्ञान होने से ही कर्त्तव्य परावधि प्राप्त हो सकती है। सत्य ज्ञान के बिना प्राणी को बार–बार जन्म मरण के बन्धन से मुक्ति पाना संभव नहीं है। अतः अथक प्रयास करके सत्यज्ञान का मार्ग प्राप्त करना ही चाहिए।

मोक्ष प्राप्ति के दो ही मार्ग बतलाये गये हैं – योग विद्या तथा वेदान्तशास्त्र। श्रीयोग वशिष्ट महारामायण में वर्णित है –

द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगविक्षणम्।।

असाध्यः कस्यचिद्योगो कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः।।

करोड़ों वर्षों में तय होने वाला मार्ग, योग साधना से सहज हो जाता है। जिसको मुक्ति पाने की इच्छा हो उसे योगमार्ग अपनाना चाहिए। योग मार्ग ही निकट का और छोटा मार्ग है। सामान्य मार्गों से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करने के लिये अनेकों जन्म धारण करने पड़ते हैं तथा करोड़ों वर्ष लग जाते हैं। परन्तु योग साधन करके मनुष्य एक ही जन्म में मोक्ष पा सकता है। योग विद्या ही ब्रह्मविद्या कही जाती है। योग साधन सर्वश्रेष्ठ साधना कही जाती है। योग ही सर्वोत्तम विद्या है। योग विद्या प्राप्त करने के लिए साधक को सिद्धगुरु की देखरेख में साधना करनी चाहिए। सद्‌गुरु सच्चा मार्ग दिखाने में समर्थ होते हैं। सद्‌गुरुओं की सहायता के बिना मिथ्या भ्रान्तियों में फँसकर अवनति को प्राप्त होते रहते हैं। इसलिए दीर्घ–दर्शी तत्वज्ञान सम्पन्न शास्त्रकारों ने भी आज्ञा दी है –

तद्विज्ञानर्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

इसका समर्थन आचार्य चूरामणि श्री शंकर भगवान भी करते हैं –

गुरुमेवाचार्य शमदमादिसम्पन्नमिगच्छेत्।
शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात।।

अर्थात् शम–दमादि सम्पन्न गुरु के समीप जाना चाहिए। शास्त्र का ज्ञान होने पर भी ब्रह्मज्ञान की खोज स्वयं नहीं करनी चाहिए। लौकिक विद्या भी गुरु से ही प्राप्त की जाती है तब ब्रह्मविद्या भी गुरु से प्राप्त करनी फलदायी रहती है। अनाधिकारी ब्रह्मविद्या प्राप्ति के पात्र नहीं होते। इसीलिए ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन किया जा रहा है, जो इस प्रकार है –

भूमयः सप्त तद्वत्स्युर्ज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा।।
सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च पंचमी।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा।।

हमारे परम आदरणीय पूज्य महर्षियों ने सात ज्ञान की भूमिकायें बतलायीं हैं –

1. शुभेच्छा – **नित्यानित्यवस्तु विवेकादिपुरःसरा**
फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा।

अर्थात् नित्यानित्य वस्तु विवेक – वैराग्य के द्वारा सिद्ध हुई फल में पर्यवसित होने वाली मोक्ष की इच्छा अर्थात् विविदिषा, मुमुक्षुता, मोक्ष के लिए आतुर इच्छा ही शुभेच्छा है। जब मनुष्य सोचने लगे कि मैं मूर्खों की तरह क्यों रहूँ। वैराग्य का सहारा प्राप्त करके आगे बढ़े तथा

आशा करे कि मैं भी महापुरुषों की सामर्थ वाला क्यों न बनूँ साधन जुटाकर मोक्ष कामना प्रगट करें। तब उसकी इस प्रकार की इच्छा को हमारे पूर्वजो ने शुभेच्छा कहा है।

2. विचारणा – गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारात्मक श्रवण मननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा।

अर्थात् श्री सद्‌गुरुदेव के समीप वेदान्तवाक्य के श्रवण मनन करने वाली जो अन्तःकरण की वृत्ति है, वह सुविचारणा कहलाती है।

योगवशिष्ठ में कहा गया है कि शास्त्रविषयों का अध्ययन, मनन तथा सत्पुरुषों के साथ विवेक वैराग्य के अभ्यास पूर्वक सदाचार में लगे रहना ही विचारणा ज्ञान भूमिका है।

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचार प्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा।।

अर्थात् सत्पुरुषों का साथ करने से, उनकी सेवा करने से, उनकी सदैव आज्ञापालन करने से, शास्त्रों का पठन–पाठन करने, मनन करने तथा दैवी सम्पदा रूप सद्‌गुण–सदाचार के सेवन से जो ज्ञान पैदा होता है, वही विचारणा ज्ञान भूमिका है। सत्–असत्, नित्य–अनित्य का विवेक ही विवेचन करना है। अतः विवेचन के द्वारा असत और अनित्य से आसक्ति दूर हो जाती है।

इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में तथा कर्मों में कामना और आसक्ति का न रहना ही वैराग्य है। इस प्रकार विवेक वैराग्य होने से मन निर्मल हो जाता है तथा वह परमात्मा के चिन्तन में लग जाता है।

3. तनुमानसा – निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यता तनुमानसा।।

ध्यान और उपासना के अभ्यास से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है। उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तु के ग्रहण करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है उसे तनुमानसा ज्ञान भूमिका कहते हैं। सच्चिदानन्दधन परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन करते–करते उस परमात्मा में तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरति के कारण परमात्मा के ध्यान में ही नित्य स्थित रहने से मन का विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही तनुमानसा नाम की ज्ञान भूमिका है। इसे निदिध्यासन भी कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों भूमिकायें जाग्रत अवस्था की भूमिकायें हैं। इनमें जीव तथा ब्रह्म का भेद स्पष्ट जाना जा सकता है। इनमें स्थित व्यक्ति ज्ञानी नहीं, साधक माना जाता है –

एतस्मिन्नवस्थात्रये ज्ञानोत्पादनयोग्यतामात्रं सम्पद्यते न च ज्ञानमुत्पद्यते।।

क्योंकि इन तीनों अवस्थाओं में तत्त्वज्ञान के प्राप्ति की योग्यता प्राप्त होती है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। इन तीनों भूमिकाओं में विचरता हुआ पुरुष ब्रह्म में अभेद–भाव को प्राप्त नहीं होता। परन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिए इनकी पहले अत्यन्त आवश्यकता होने के कारण इनकी गिनती अज्ञान की भूमिका में न होकर ज्ञान की भूमिका में ही होती है।

ज्ञानभूमिकात्वं तु ज्ञानेतरकमधिनधि कारित्वे
ज्ञातिरयैवाधिकारित्वात्।

इन तीन भूमिकाओं में स्थित पुरुष ज्ञान के अलावा कर्मा आदि का अधिकारी नहीं होता, प्रत्युत: केवल ज्ञान तत्व का ही अधिकारी होता है।

4. सत्त्वापत्ति –

निर्विकल्पब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार: सत्त्वापत्ति:।

अर्थात् ब्रह्मस्वरूपैकात्मत्व का अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नाम की चौथी भूमिका है। यह साधक की सिद्धावस्था है। इस भूमिका में सिद्धमहापुरुष को 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का वास्तविक अनुभव हो जाता है। महापुरुषों की इसी स्थिति को निर्वाण ब्रह्म की प्राप्ति कहा गया है। यथा –

योऽन्त: सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य:।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।

जो पुरुष आत्मा में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करता है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवान है, वह परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। उसका इस शरीर और संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मज्ञानी के अन्त:करण में शरीर और अन्त:करण सहित यह संसार स्वप्न के समान भासने लगता है। राजा जनक, याज्ञवल्क जी, राजा अश्वपति आदि इसी चौथी ज्ञान की भूमिका तक पहुँचे कहे गये हैं।

5. असंसक्ति –

सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे
मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्थासंसक्ति:।।

अर्थात् सविकल्पक समाधि के अभ्यास के द्वारा मानसिक वृत्तियों के निरोध से जो निर्विकल्पक समाधि की अवस्था होती है, उसे असंसक्ति कहते हैं। इसे सुषुप्त भूमिका भी कहा जाता है। इस भूमिका में ब्रह्म से अभेद भाव प्राप्त होने से भूला सा बना रहता है। परंतु किसी अन्य के याद दिलाने पर उपदेश भी करता है तथा शरीर सम्बन्धी कर्म भी करता है।

अस्यामवस्थायां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते।।

परम वैराग्यता के कारण ब्रह्मप्राप्त महात्मा का इस संसार और शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है, इसी कारण इस पांचवीं भूमिका को असंसक्ति कहा जाता है। ऐसा महात्मा का संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह कर्म करे और न भी करे कोई फर्क नहीं पड़ता। श्री जड़भरत जी इसी भूमिका में स्थित रहा करते थे।

6. पदार्थाभावनी –

असंसक्तिभूमिकाभ्यासपाटवाचिरं

प्रपंचापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्थाभावनी।।

योगी को असंसक्ति ज्ञान भूमिका में परिपक्वता के बाद प्रपंचों आदि का स्फुरण नहीं होता, उसी अवस्था को पदार्थाभावनी भूमिका कहते हैं। असंसक्ति में स्फुरण का अभाव थोड़े समय तक ही रहता है परन्तु पदार्थाभावनी भूमिका स्फुरण होने अभाव दीर्घकाल तक रहता है। इसी कारण इस अवस्था को गाढ़सुषुप्ति के नाम से पुकारते हैं। इस क्रिया में महापुरुष शरीर सम्बन्धी क्रियायें नहीं करता परन्तु अगर दूसरा करवाने का प्रयत्न करे तो कर अल्पता में कर लेता है। यथा –

अस्यामवस्थायां परप्रयत्नेन योगी व्युतिष्ठते।।

अन्य के द्वारा व्युत्थान पाकर वह क्रिया करता है। दूसरा कोई अगर उसके मुँह में ग्रास दे दे तो उसे खाने की चेष्टा करता है इत्यादि। महापुरुष की हर समय समाधि लगी रहती है। श्वास आते जाते रहते हैं। ऐसी अवस्था में अगर कोई उससे ब्रह्मज्ञान के प्रश्न पूछे तो उसके उत्तर दे देता है। स्वामी श्री ऋषभदेव जी इसी छटी ज्ञान की भूमिका में स्थित रहा करते थे।

7. तुरीयान्तुर्गा –

''ब्रह्मध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया।

ब्रह्मचिन्तन में रत इस महापुरुष को पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थ की परिस्फूर्तिका न होना, यही ज्ञान की सातवीं भूमिका तुरीया कहलाती है। इस अवस्था वाला महात्मा स्वेच्छा से अथवा परेच्छासे व्युत्थान को प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति –ब्रह्मी भूत स्थिति में ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थायां योगी न स्वतो नापि परकीयप्रयत्नेन

व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एव भवति।

छटी भूमिका बाद सप्तवीं भूमिका स्वयंमेव ही हो जाती है। ब्रह्मवेत्ता महात्मा के हृदय में संसार और शरीर के बाहर भीतर के लौकिक ज्ञान का अत्यन्त अभाव हो जाता है। उसके मन

तथा बुद्धि ब्रह्म में ही समाहित हो जाते हैं। अतः उसकी व्युत्थानावस्था न तो स्वतः होती है और न ही दूसरों के द्वारा प्रयत्न करने से हो पाती है। जैसे मुर्दा जगाने से नहीं जागता, वैसे ब्रह्म ज्ञानी तुरीयावस्था में रहता है। मुर्दे में प्राण नहीं होते परन्तु इस अवस्था में प्राण अपना कार्य करते रहते हैं। जीवन निर्वहन दूसरे लोगों के द्वारा ही होता रहता है। हर समय ब्रह्म में ही लीन रहता है तथा स्वयं ब्रह्ममय बन जाता है।

ज्ञान की प्रथम तीन भूमिकायें ज्ञान की प्राप्ति के लिए हैं जबकि तत्व ज्ञान प्राप्ति चौथी भूमिका से सातवीं तक होता है। शास्त्र कहता है – **'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति।'** अतः ब्रह्म के जानने वालों को ज्ञानी, तत्वज्ञानी, आत्मज्ञानी तथा ब्रह्मज्ञानी आदि अनेकों नामों से पुकारा जाता है। ऐसे महात्माओं से बातचीत न होने पर, केवल मात्र उनके दर्शनों से ही मानव कृतकृत्य हो जाते हैं। श्रीसद्गुरुदेव जी बतलाया करते थे कि स्वामी मुलखराज जी महाराज इसी अवस्था में रहा करते थे।

श्री सद्गुरुदेव के पावन चरण कमलों में मेरा कोटि कोटि साष्टांग नमन! सभी गुरुभाइयों की जय गुरुदेव के साथ।

● ● ●

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्संचितागामिनाम्।
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिता-
स्तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदापि ब्रह्मैव ते निर्गुणम्।

विद्वान का प्रारब्ध-कर्म अवश्य ही बलवान होता है। उसका क्षय भोगने से ही हो सकता है। उसके अतिरिक्त पूर्व संचित और आगामी कर्मों का तो तत्वज्ञानरूप अग्नि से क्षय हो जाता है। किन्तु जो ब्रह्म और आत्मा की एकता को जानकर सदा उसी भाव में स्थित रहते हैं उनकी दृष्टि में तो वे (प्रारब्ध, संचित और आगामी) तीनों प्रकार के ही कर्म कहीं नहीं है, वे तो मानो साक्षात् निर्गुण ब्रह्म ही है।

जयसिंह जादौन की प्राण रक्षा

– जगदीश राए बंसल 'अधम', दिल्ली

दोहा : सुन कर आर्त पुकार, गुरु जी आते हैं।
करते हैं शक्ति संचार, प्राण बचाते हैं।।

काल चक्र, युग चक्र और जग चक्र को साथ–साथ चलाने वाले अखण्ड–मण्डलाकार योग योगेश्वर गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज, किसको किस समय और किस विधि से अपने श्री चरणों में स्थान दे दें और उसके जीवन की दशा एवं दिशा बदल कर उसे योग साधन की कला प्रदान कर दें, इस गहनता को समझ पाना, अच्छे–अच्छे साधकों के बूते से भी बाहर की बात है। इसीलिए कहा जाता है कि –

माली चुनता फूल जिस तरह, फूलों भरी कतार से।
निज बच्चों को आप खींचते, भीड़ भरे संसार से।।

आराध्यदेव योगीराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का इसी प्रकार का यह कृपा प्रसंग आज से लगभग 17 वर्ष पहले का है। बात कुछ इस प्रकार बनी कि भाग्य विधाता योग योगेश्वर गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के परम लाड़ले कृपा शिष्य श्री दासलाल जी महाराज के तत्वाधान में गंगापुर सिटी (सवाई–माधोपुर–राजस्थान) के आदरणीय गुरु भाइयों द्वारा योग शिविर कार्यक्रम चलाया जा रहा था। स्थानीय श्रद्धालु गुरु भाई–बहिनों ने गंगापुर सिटी को पूरा गुरुमय बनाया हुआ था। दिनांक 17 मई 1995 की बात है। सायं काल के समय सत्संग के भजनों की मधुर ध्वनि से सत्संग स्थल के आस–पास आनन्द के बादल बरस रहे थे। इसी मध्य श्री जयसिंह जादौन नामक एक श्रीमान जी, जो स्थानीय एक स्कूल के संचालक हैं, अपने निवास स्थान से मस्ती में अपने स्कूल कार्यालय के लिए निकले। संयोग से मार्ग में उन्हें एक मित्र श्री देवकी नन्दन गुप्ता जी मिल गए। गुप्ता जी बोले, चलिए मा. जी सत्संग में गोता लगा लेते हैं। मास्टर जी ने कहा, दोस्त, आज–कल स्कूल में बच्चों के एडमिशन चल रहे हैं, मुझे कुछ आवश्यक कार्य निपटाने हैं...। इस प्रकार गप–गप करते–करते चारों पैर सत्संग रूपी गंगा तट पर पहुँच गए। भव्य पंडाल में पूज्य ज्ञानी बाबा के गाए भजन गूंज रहे थे। हारमोनियम, ढोलक, चिमटे अपना–अपना प्रभाव दिखा रहे थे। कोई भाई ध्वनि की लय पर झूम रहा था, कोई उचक–उचक कर ताली बजा रहा था, कोई ध्यान की मुद्रा में बैठा था। यानि भक्ति का रंग यौवन पर था। दुल्हन की तरह स्टेज सजी थी। महाप्रभु श्री रामलाल जी एवं गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी के दिव्य स्वरूप फूलों से लदे दरबार में आकर्षण का केन्द्र थे। स्वरूपों के ठीक दाहिने मुख्य वक्ता योगी राज श्री दासलाल जी महाराज शोभा पा रहे थे। स्वरूपों के ठीक मध्य दिव्य ज्योति का प्रकाश फैल रहा था। .... इत्यादि।

सत्संग में पहुंच कर गुप्ता जी ने वहीं से खड़े–खड़े दोनों स्वरूपों को प्रणाम किया और यथा स्थान पाकर बैठ गए। मगर मा. जी खड़े ही रहे और सारे पंडाल में आँखें तैराने के पश्चात शीघ्र ही उचाट हो गए। पंडाल से वापिस होने से पहले श्रीमान जी शरीर को कुछ मोड़ कर गुप्ता जी से कहने लगे कि गुप्ता जी! चलिए, अपने ए.सी. आफिस चलते हैं। वहाँ बैठकर एक–एक पैग का मजा लेंगे। यहाँ पसीने दार गर्मी में पोस्ट ग्रेजुएट मच्छरों के मध्य क्यों स्वयं को सजा दें? वैसे भी यह स्वीकार की मांय–मांय सुनना तो आलतू–फालतू आदमियों का काम है। इस बात को सुन कर गुप्ता जी ने अपना सिर हिला कर इन्कार कर दिया। गुप्ता जी के इन्कार से मा. जी बौखला गए और शरीर को झटका सा देते हुए चलते–चलते बोले, हूं, पागल आदमी है। पागल शब्द सुन कर गुप्ता जी मन ही मन बुदबुदाए कि –

इन बिगड़े दिमागों में भी होते अमृत के लच्छे हैं।
हमें पागल ही रहने दो – हम पागल ही अच्छे हैं।।

मास्टर जी चट–पट अपने स्कूल कार्यालय में पहुंच गए। श्रीमान् जी ने ए.सी. तो फट ऑन कर लिया, मगर पैग वाला काम अभी नहीं किया। बच्चों के दाखिले वाला रजिस्टर खोला और पैन भी अपने हाथ में सम्भाल लिया। मगर मा. जी को एक अनजानी टीस सी होने लगी। सत्संग की सुगन्ध उसका पीछा कर रही थी। रह–रह कर मन करता कि सत्संग में चला जाऊँ। अगले ही क्षण मन करता कि लिखा–पढ़ी का काम निपटा लूं। इस दुविधा का परिणाम यह हुआ कि हमारे हरियाणा में एक कहावत है कि –

ना पूड़े – ना पापड़ी, ना बनाई – राबड़ी

अर्थात् कुछ नहीं हुआ। न तो स्कूल का कार्य निपटाया और न ही सत्संग का लाभ उठाया। कुछ समय पश्चात्, इसी उधेड़ बुन में मा. जी स्वगृह पहुंच कर अपने बिस्तर पर जा कर सो गए।

अब लीलाधारी की लीला देखिए कि लोक पावन आराध्यदेव जी के कितने प्यारे–प्यारे साधक बच्चे यह प्रार्थना करते हैं, आशा करते हैं कि गुरु–देव भगवान की हमें एक झलक मिल जाए। मगर झलक मिले या न मिले यह भाग्य विधाता गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की इच्छा पर निर्भर है। मगर भण्डारी जी यहाँ खुले भण्डार लुटा रहे हैं कि श्री जादौन मास्टर जी को अकारण दयालु गुरु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने दर्शन देकर कहा कि लल्ला! शराब तुझे छोड़ गई है, अब तू कभी शराब नहीं पी सकेगा।

गुरु वचन पलटे नहीं। पलट जाए ब्रह्माण्ड।।

मा. जी को निद्रा में दिया गया गुरुदेव भगवान का यह वचन आज तक पर्वत की चट्टान की तरह अडिग है। दिन में मा. जी ने अपने स्वप्न का अनुभव गुप्ता जी से सांझा किया। गुप्ता जी ने मन ही मन सत्संग में देखे गए स्वरूपों को प्रणाम किया और सत्संग पर गर्व कर छाती ठोक कर कहा कि –

सबकी जिन्दगी में खुशियाँ देने वाले, हमारी जिन्दगी में कोई गम ना हो।
हमको ऐसे दुर्लभ गुरु मिले, चाहे दीक्षा ली – ना ली हो।।

ऐसे गुरुदेव भगवान के दुर्लभ दर्शन – साथ में श्री मुख से निकले वरदाई चमत्कारी हितकारी वचन, हमारे आदरणीय गुरुभाई श्री चन्द्रशेखर के भी कानों तक भी पहुँच गए। श्री चन्द्रशेखर के विषय में बताता चलूँ कि इस प्रसंग का श्रेय इन्हीं को जाता है। भाई जी होली पर्व दिनांक 7 मार्च 2012 के उपलक्ष्य में श्री सवाई धाम पधारे एवं गुरुदेव के निवास की तरफ श्री सिद्ध गुफा शैड की निर्माणाधीन बाऊन्डरी पर बैठ कर यह प्रसंग सुनाया और भाग्यशाली जादौन जी से मोबाइल सम्पर्क भी कराया। फोन पर मा. जी ने आप बीती सुनाई और गोठाना निवासी समस्त गुरु भाइयों संग मुझे गंगापुर सिटी आने का बढ़िया सा निमन्त्रण भी दे डाला। मा. जी ने आगे बताया कि एक सामान्य समय व्यतीत होने के पश्चात् मैंने 19 अगस्त 2010 को घरौंडा आश्रम में आ. श्री रामलाल जी महाराज से दीक्षा लेने का सौभाग्य प्राप्त किया। परन्तु सन् 2010 की ही सर्द ऋतु में मुझ पर किसी कलिष्ट संस्कार ने आक्रमण कर दिया। मेरे को पीड़ा रहने लगी। एक भाई की सिफारिश पर मुझे भारतीय आयु विज्ञान संस्थान (एम्स) देहली भेजा गया। वहाँ के विशेषज्ञ डॉ. एन.के. अग्रवाल की देख–रेख में तमाम निरीक्षणों के पश्चात् मुझे कैंसर ग्रस्त घोषित कर दिया गया। कैंसर का अस्पताल अपने जयपुर में भी चिरपरिचित है। अत: अब जयपुर के महावीर कैंसर इंस्टिट्यूट के विशेषज्ञ डॉ. एस.आर. महता के हवाले हो गया। आवश्यक जाँच पड़ताल के पश्चात् डॉ. महता ने कैन्सर की तो पुष्टि की, साथ ही मुझे बम्बई रैफर कर दिया। हमारे होश हवाश गुम हो गए। दुःख की इस घड़ी में स्वप्न दृष्ट सर्व समर्थ श्री चन्द्रमोहन महाराज की याद आना स्वाभाविक ही था। हमारे प्रार्थना के स्वर स्वत: चल पड़े।

दया करो गुरुदेव, हम पर दया करो।
शरण पड़े तेरे द्वार, कैन्सर ठीक करो।।
शुभ–शुभ मेरे कर्म नहीं थे, भक्तों जैसे धर्म नहीं थे
शर्म सार हूँ सरकार, मुझ पर दया करो
दया करो ....(1)
आकर मेरे प्राण बचा दो, सिद्धगुफा में मुझे बैठा दो
क्षमा करो दातार, मुझ पर ....(2)
अनेकों को तूने जीवन दान दिया है, दुनियाँ को तूने निरोग किया है
मुझ को है दरकार, मुझ पर ....(3)

परिणामत: मुझे बम्बई के टाटा मैमोरियल अस्पताल ले जाया गया। वहाँ पर गहन निरीक्षण में मेरा हिमोग्लोबिन 19 पाया, जबकि सामान्य 13 ही होता है। इस बात का तात्पर्य यह

है कि शरीर का रक्त गाढ़ा हो गया–जम गया है। इसे निकालना पड़ेगा। यह क्रिया एक माह में चार बार करवानी होगी। इस बात से तो हमारी सांसें अटक गई और अपनी रिपोर्ट लेकर जयपुर ही आ गए। जयपुर पहुँचते ही हमने श्री बाबू राम शर्मा को चरण रज लाने के लिए सवाई धाम भेज दिया।

शारीरिक कष्ट के अतिरिक्त, मुझे मानसिक पश्चाताप भी था कि उस दिन मैंने शर्मा जी को क्या–क्या कह डाला और उसी रात स्वप्न में आए महाराज जी के दर्शन एवं हितकारी वरदान का महत्व नहीं जान पाया तथा शीघ्र दीक्षा न लेकर, इतना लेट हो गया। क्या–अकारण दयालु संकट मोचक मेरे अपराधों को क्षमा कर मुझे प्राण दान देंगे? प्रतिपल स्मरणीय सर्व समर्थ दादा गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के चरणों में बार–बार वन्दना है कि –

नैय्या तेरे लल्ला की, डोले बीच मझधार।

गुरु वर आकर थाम लो, ये पड़ी पतवार।।

इधर श्री शर्मा जी आनन–फानन में पूज्य गुरु जी श्री रामलाल जी को हालत से अवगत करा कर संजीवनी चरण–रज ले आए। महाराज जी ने कहा कि प्रभु जी सब ठीक करेंगे। इसे देते रहना या यूं समझ लें कि

फिकर मत कर बावरे, मत कर मन में सोच।

गुरुवर का ध्यान कर, छोड़ सभी संकोच।।

गुरु जी का रज प्रसाद लेने के पश्चात् मैंने दवाई लेनी बन्द कर दी। तथा प्रातः सायं एक–एक घण्टा जगत नियन्ता श्री चन्द्रमोहन जी महारजा का ध्यान प्रारम्भ कर दिया।

आ गई लहर शिवा के मन में ।।

मेरी पीड़ा ने करवट ली और अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। मेरा हीमोग्लोबिन अब सामान्य है। जयपुर के डॉक्टर भी चकित हैं कि यह कमाल कैसे हुआ। आपको बता दूँ ऐसे हुआ कि –

विभूति मेरे गुरु की कमाल करती।

जिसने भी खाई उसको निहाल करती।।

गुरुदेव भगवान का आभार व्यक्त करने को तो शब्द नहीं है। मगर अपनी अल्प बुद्धि से गुरु गुणगान की केसैट एवं लोकट आदि उपलब्ध किये हैं। गुरु जी की उपलब्धि के बारे क्या बताऊँ, क्या नहीं बताऊँ? बस इतना ही बोलूंगा कि गुरु जी ने जैसे मुझे निहाल किया है, आप सबको भी वैसा ही निहाल करें। मेरे गुरु भाईयों –

ये तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।

शीश दिए ऐसे गुरु मिले, तो भी सस्ता जान।।

● ● ●

गीतामृत पद्यावली

लेखक – राम प्रकाश गुप्ता, हल्द्वानी
प्रेषक – डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी, गोरखपुर

(गतांक से आगे)

अध्याय 17

श्री अर्जुन उवाच

करते पूजन शास्त्र विधि को छोड़, श्रद्धायुक्त हो।
हे कृष्ण! उनकी सत्व, रज, तम कौन सी निष्ठा कहो।। 1।।

श्री भगवानुवाच

तीन भाँति की होतीं सबकी स्वाभाविक श्रद्धाएँ भी।
तम-रज-सत्व-जनित ये कैसे, होतीं मुझसे सुनो अभी।। 2।।

श्रद्धायें भी सबकी होतीं निज स्वभाव के ही अनुरूप।
श्रद्धायुक्त सभी जन होते, निज श्रद्धा-सम सबका रूप।। 3।।

देव-यजन सात्विक जन करते, राजस यक्ष-रक्ष-पूजन।
भूत-प्रेत की पूजा करते जग में केवल तामस जन।। 4।।

दंभी, अभिमानी जन, अर्जुन! काम-राग-बल के आधीन।
घोर तपस्या करते रहते शास्त्रों की विधियों से हीन।। 5।।

मुझको, पंच-महाभूतों को दुख देते जो निज तन में।
हैं अज्ञानी, बुद्धि आसुरी, हे अर्जुन! उनके मन में।। 6।।

प्रिय होते लोगों को अर्जुन! तीन भाँति के ज्यों आहार।
यज्ञ, तपस्या और दान के तीन भेद सुन उसी प्रकार।। 7।।

आयु, बुद्धि, बल, प्रीति और सुख-वर्द्धक जो रखता नीरोग।
स्निग्ध, सरस, प्रिय ऐसा भोजन, चाहा करते सात्विक लोग।। 8।।

कड़वा, खट्टा, लवण-युक्त भी उष्ण, रुखा तीखा भोजन।
दाह-रोग-चिन्ता-दुख-दायक सदा चाहते राजस जन।। 9।।

वस्तु अपावन, जूठी, बासी, गन्ध बुरी जिससे आती।
अर्द्ध-पक्व, रसहीन, धनंजय! तामस जन को है भाती।। 10।।

शान्त चित्त से, उचित समझकर विधिवत् जिसे किया जाता।
फलाभिलाषा-रहित यज्ञ वह, अर्जुन! 'सात्विक' कहलाता।। 11।।

फल की इच्छा मन में रखकर दंभयुक्त जो करे यजन।
यज्ञ राजसी है वह ही ओ! भरतश्रेष्ठ कुन्ती-नन्दन।। 12।।

मंत्र-हीन हो, विधि-विहीन भी, जिसमें नहीं अन्न का दान।
नहीं दक्षिणा, श्रद्धा जिसमें, वही यज्ञ 'तामस' तू जान।। 13।।

देवार्चन, द्विज-गुरुजन पूजा, और सदा पावन रहना।
ब्रह्मचर्य, सारल्य, अहिंसा को 'शारीरिक तप' कहना।। 14।।

जिसको सुन उद्वेग नहीं हो, सच्ची, प्रिय, हित की बानी।
वेद-पठन औ' ईश-भजन को, 'वाणी-तप' कहते ज्ञानी।। 15।।

मन-प्रसन्नता, मौन, सौम्यता, आत्म-दमन में रत रहना।
तथा भाव की शुद्धि-इन्हीं को 'मानस-तप' अर्जुन! कहना।। 16।।

इन्हीं तपों को जब, हे अर्जुन! श्रद्धा से करते रहते।
फल की इच्छा तनिक न रहती, तब 'सात्विक' इनको कहते।। 17।।

दंभ-हीन जो तप होता है पाने को पूजा-सम्मान।
क्षणिक, अनिश्चित है वह, अर्जुन! उसको 'राजसतप' तू जान।। 18।।

मूढ़, हठीले जन जिस तप को करते कष्टों को सहते।
जिसमें अहित किसी का भी हो, उसको 'तामस तप' कहते।। 19।।

देश-काल को समझ-बूझकर, उचित पात्र का रखकर ध्यान।
स्वार्थ-भाव तजकर जो देते, उसको कहते 'सात्विक दान'।। 20।।

स्वार्थ-सहित जो दिया गया हो, फल का भी हो जिसमें ध्यान।
दु:ख जिसे देने में हो, तू उसी दान को 'राजस' जान।। 21।।

देश-काल का ध्यान न रखकर जो कुपात्र को देते दान।
आदर से जो दिया न जाता, उसी दान को 'तामस' मान।। 22।।

परम ब्रह्म के नाम तीन ये, पार्थ ! ॐ, तत्, सत्' तू जान।
ब्राह्मण, यज्ञ और वेदों का उससे हुआ, पार्थ! निर्मान।। 23।।

ब्रह्म-वादियों के, हे अर्जुन! यज्ञ-दान-तप के सब काम।
होते हैं उच्चारण करके अमर ब्रह्म का 'ॐ' सुनाम।। 24।।

फल की आशा तजकर अर्जुन! 'तत्' का ध्यान सदा धरते।
यज्ञ, दान, तप आदि क्रियायें मोक्षार्थी जन हैं करते।। 25।।

'सत्' का अर्थ सदा होता है 'श्रेष्ठ भाव, उत्तम आचार'।
औ' शुभ कर्मों हेतु हुआ करता है इस 'सत्' का व्यवहार।। 26।।

यज्ञ, दान, तप सद्भावों को 'सत्' है पार्थ! कहा जाता।
इसके लिए कर्म जो होता, वह भी 'सत्' है कहलाता।। 27।।

दान, हवन, तप जो-कुछ अर्जुन! श्रद्धा-रहित किया जाता।
यहाँ-वहाँ वह कहीं न फलता, पार्थ! 'असत्' वह कहलाता।। 28।।

(क्रमश:)

('श्री गीतामृत-पद्यावली' का श्रद्धा-त्रय-विभाग-योग नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण)

योग-आसन

स्वस्तीक आसन

प्रथम साधारण स्थिति में बैठ जाओ और अपने बायें पैर के पंजे को पकड़ करके पिंडली और जंघा के बीच में अपने दोनों पैरों के पंजों को दबायें और समकाय शिरोग्रीव हो करके दोनों हाथों को सिद्धासन की तरह दबा करके मेरुदण्ड को सीधा करके बैठ जायें और दृढ़ता से अभ्यास करें। स्वस्तीक आसन का फल भी सिद्धासन के समान ही है।

समय – सरलता पूर्वक 1 मिनट से आरम्भ करना चाहिए व धीरे–धीरे रोजाना 2–2 मिनट बढ़ाते हुए घण्टों तक ले जाना चाहिए।

लाभ – स्वस्तीक आसन ध्यानाभ्यास के लिए परम उपयोगी आसन है इस आसन में बैठने पर सुषुम्ना की गति अपने आप हो जाती है। मन की एकाग्रता स्वत: ही जागृत हो जाती है। यह सिद्धासन की अपेक्षा अधिक सरल है। इस आसन को गृहस्थी, विरक्त, सन्यासी, महात्मा, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ सभी सरलता से कर सकते हैं।

संकल्प का मन और प्राण पर प्रभाव

– ब्रह्मचारी श्री सूरजप्रकाश शर्मा, जम्मू काश्मीर

इन तथ्यों के देखने से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि ध्वनि की व्यापकता परम प्रबल अतीव सत्ता सम्पन्न एवं प्रकाशमय है। प्रत्येक मर्म स्थानों में कुछ न कुछ वासनायें छकड़ जाती हैं। जिस प्रकार नदी के प्रत्येक मोड़ में कुछ न कुछ झाड़ फूस इकट्ठे हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार सभी मर्म स्थानों में कुछ न कुछ वासना विकारों का संग्रह हो जाता है। जिस प्रकार प्रचण्ड प्रवाह के आ जाने से सभी मोड़ों में छिपे कूड़े करकट बह जाते हैं। उसी प्रकार ध्वनि के तीक्ष्णतम आघात से सभी मर्मों में छिपे विकारों को निकलना पड़ता है। ध्वनि के इस व्यापक तत्व का घनिष्ट सम्बन्ध संकल्प से है। इसी ध्वनि के द्वारा आदेशों में बल होता है। शक्ति का नियन्त्रण होता है। वशीकरण आदि कार्य सम्पादित होते रहते हैं।

यह प्रतिहर्त्ता है। शरीर तत्व को निरंतर ह्रास–वृद्धि में परिणत करने वाला प्रतिहर्त्ता मन है। इसकी क्रियात्मिका शक्ति यज्ञसम्भार अर्थात् देव पूजन (प्रकाश प्राप्ति का प्रयत्न) संगतिकरण प्रेरणा भर कर अंगों को सम्यक् प्रकार संचालित करना दानस्वसत्वों को बदलकर पर सत्वोपादन करता रहता है। इसलिए कहा गया है – "मनो ह वा अस्य सविता।" मन ही इसका जन्म दाता है। इसकी स्थिति सर्वदा समान है। अब प्रश्न उठता है कि मन किस प्रेरणा शक्ति के वशीभूत यह करता रहता है?

प्राण की दो धारायें हैं। एक प्रत्यक्ष गमन जो सांस में प्रगट होती है और दूसरी अदृश्य गमन जो प्रेरणा रूप से ज्ञात होती। यही प्रेरक प्राण मन है। जिस समय इस प्रेरक प्राण में अकस्मात् कोई धक्का लग जाता है विचारों से, रोगों से, विषो से प्राणी पागल हो जाता है। अतएव यह अन्तर्गुप्त प्रेरक प्राणी ही मन है। इसका निवास स्थान यद्यपि हृदय देश में है, परन्तु यह इतना सूक्ष्म है कि इसे पकड़ पाना सर्वथा असम्भव है। परमाणु अविभाज्य तत्वों का नाम है। पर आज के वैज्ञानिकों ने उसे विभाज्य मान लिया है। पता नहीं किस आधार पर। उनका कहना है परमाणुओं की एक सीमा निर्धारित हो चुकी है और वह सीमा विभाजित की जा सकती है। परन्तु आर्य सिद्धान्तों में परमाणु को गोचर पदार्थों से बहिर्भूत माना है। अतएव परमाणु का विभाजन असम्भव है। यदि मान ही लिया जाय कि परमाणु का विश्लेषण या विच्छेद हो जाता तो वह जो सूक्ष्मभूत तत्व है, वही मन का जनक बन जायेगा। पर परमाणु को विभाजित स्वीकार कर लेना सत्य का गला घोंटना होगा। इन परमाणुओं का नाश नहीं होता। अतएव–

परमाणु रूपा नित्या – परमाणु रूप तत्व नित्य होते हैं। इसी के साथ विविध वासनाओं का आवरण दोष सर्जन करता है। मन को निर्मल बनाने के लिए भौतिक कणों से अर्थात् भौतिक रूप–रस–गन्ध–स्पर्श तत्वों से स्वतन्त्र रखना होगा। इसी परमाणु तत्व प्राण को मन कहा

जाता है। जैसे – *तस्मात्सवित्रं गृह्णाति प्राणो ह वा अस्य सविता तमेवास्मिन्नेतत्पुरस्तात्प्राणं दधाति यजुंषु गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधाति यत्सवित्रं गृह्णाति ताविमा उभयतः प्राणौ हितौ पश्चायमुपरिष्टादयश्चायमधस्तात्।*

अतएव (सवितुः इदं सावित्रम्) मन रूप सविता से निरन्तर होने वाले सवित्र अर्थात ज्ञान–यज्ञ को पकड़ता है। अब और स्पष्ट करना है यह मन ही क्या है? यह कैसे सृष्टि करता है? क्योंकि मन की स्थिति स्पष्ट नहीं होती किस आधार पर वह प्रेरणा करता है? इसलिए अतीव आवश्यक है, प्रेरक तत्व से उसे खोजा जाए। प्रेरक तत्व तो प्राण के सिवाय और दूसरा कौन है? यह प्राण ही तो प्रेरक है। अगर प्राण न हो तो प्रेरणा को कोई बल नहीं प्राप्त होगा। यह प्राणवायु है। स्पष्ट के किसी यन्त्र विशेष में चाहे जिस किसी कारण का आश्रय लेना पड़े, परन्तु जब तक वायु का जन्म नहीं होगा तब तक वह यन्त्र संचालित नहीं होगा। वायु ही प्रेरक है, फिर यह मन प्रेरक बन गया तो यह कौन है? उसी को स्पष्ट करते हुए इस ब्राह्मण में कहा गया है –

प्राण ही सविता है, प्रेरक या उत्पादक है। सर्व प्रथम किसी वस्तु को प्राण अपने में धारण कर तब उसे प्रेरित करता है। किसी को आदेश देने के पूर्व उस वस्तु का आदेशीय रूप आदेश देने वाले के हृदय में अंकित हो जाता है। अतएव प्राण ही प्रेरणा को धारण करता है। जो उपांशु (समीपगत किरण) ग्रहण किया जाता है, उसका भाव यह है आदेश स्पष्टतः वायु द्वारा प्रेरित वाणी है, परन्तु आदेश के समाप्त होने पर जो फैलती हुई एक क्रिया शीघ्रातिशीघ्र होती परिलक्षित होती है, वही प्राण का परिचय देती है। जो प्रेरणा को पकड़ता है और जो कम्प उत्पन्न कर आदेश देता है, दोनों ही ये प्राण ही हैं। जो कम्प उत्पन्न करते तथा जो प्रेरणा उपजाते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, प्राण और मन एक ही हैं किन्तु प्राण के विभिन्न भेदों में सूक्ष्म प्रेरक प्राण ही मन है।

अब वह और स्पष्ट हो गया कि शरीर के भीतर प्रेरणा और चेतना ये ही दो क्रियायें मुख्य हैं। इसमें दोनों की क्रियायें प्राण और आत्मा के अधीन है। प्राण प्रेरणा का जनक है तथा आत्म चेतना का। चेतना विकारों को शान्त करती एवं प्रेरणा दोनों तरह का कार्य करती है। अतएव आत्मा उद्गाता ही है अर्थात ज्ञान प्रदान करने वाला है किन्तु प्राण विभिन्न रूपों को प्रकट करता है, वह उर्ध्वयु भी है, वाणी बनकर प्रस्तावक भी बनता है एवं मन का रूप धारण कर सामग्री संचयन भी करता रहता है। यज्ञ का पंचम विभागाध्यक्ष भिषक् है। जिसका काम है वस्तु शक्ति को देखकर उपयोग में लगाने वाला। यह कौन है? इसका नाम व्यानवायु कहा गया है। व्यान का कार्य स्पष्ट हो जाता है कि यह शरीर के अन्तर्गत शक्तिशील तत्वों का संग्रहक एवं व्यवहारक है। जिस समय किसी वस्तु का पाचन होने लगता है तो उस समय अग्नि के द्वारा उसका वाष्प बनकर शक्तिशील तत्व छितराने लगता है। उन छितराने वाले तत्वों को यथा स्थान ठीक रखने वाला यही व्यान है। यह सम्पूर्ण शिराजालों के भीतर जो सूक्ष्म छिद्र होता है। उसी में फैला है, ''व्यानः सर्वशरीरगः'' व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में फैला है। वस्तु तत्व केवल

औषधियों से ही सक्रिय नहीं होते, वरन् वाणी, जल, वायु, अग्नि आदि के संयोग से भी वर्द्धनशील होते हैं। इसी व्यान का काम एक शरीर से दूसरे शरीर में तेज का प्रवेश कराना है। यह यद्यपि शरीर के सभी अंगों में व्याप्त है फिर भी उँगलियों में तथा त्वचाओं में अति प्रबल रूप से रहता है। प्राण के नियन्त्रण में रहने के कारण ही यह शरीर की सीमा को सुरक्षित करता है। अन्यथा प्राण का जरा सा व्युत्क्रम हो जाए तो यह उसे बढ़ाना प्रारम्भ कर देता है। यही कारण है कि चोट खाये स्थान पर प्राण का क्षणिक व्युत्क्रम हो जाता है फलतः यह उस स्थान को बढ़ाना प्रारम्भ कर देता है। किन्तु ज्यों-ज्यों प्राण उसमें आता जाता है, त्यों-त्यों वह स्थान समावस्था में आता जाता है। इसलिए प्राण संयुक्त जो व्यान है वही भिषक है "भिषग्वा व्यानो वा" में विकल्प का दो बार उपयोग किया गया है।

निश्चित रूप से परीक्षण करने पर ये सभी क्रियायें प्राण की ही लीलायें हैं। वह जब चाहे जैसा मोड़ उपस्थित कर दे। इस प्राण को जितना अधिक संयत बनाया जायेगा, उतना ही अधिक यह आत्म ज्योति को प्रदीप्त करेगा। जितना विभिन्न प्रक्रियाओं की ओर प्रेरित किया जायेगा उतना ही अद्योपनन अन्धकार की सृष्टि करेगा।

जिस समय प्राण अनियन्त्रित रहता है अर्थात् संकल्प हीन रहता है उस समय निरर्थक अनेक विचार अपने आप आते रहते हैं परन्तु संकल्प के आ जाने पर ध्यान संकल्प पर दृढ़ हो जाता है। प्राण नियन्त्रित होकर सभी प्रेरणाओं को एक ओर आकृष्ट करता है-

तस्माद् यस्य महाबाहो : निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्य तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। *गीता अ. 2/210/68*

अतएव जिसकी इन्द्रियां अपने इन्द्रियार्थ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्दादि से निगृहीत अर्थात् उनमें से उलझनें हटा ली गई हैं उसी की बुद्धि, विवेचना, शक्ति, अनुभूति प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिरता की ओर बढ़ी है।

यदि प्राण आत्मावशवर्ती होकर आँखों में, कानों में, नासिका में, जिह्वा में विचरण करता है तो किसी प्रकार के विकार का जन्म नहीं होता परन्तु जब भी यह प्राण जरा सी स्वतन्त्रता से निकला हाहाकार मच जाता है आत्मा सूचना देती, झिड़कियाँ दिखाती है। इतने पर भी यदि संघर्ष प्राण नहीं सँभला तो अब इन्द्रियां इन्द्रियार्थों की ओर दौड़ पड़ेंगी। इन्द्रियों के साथ दौड़ धूप में व्यान का सहयोग छूटा फलतः शरीर रोग मन्दिर बन गया। व्यान शान्त एवं समरत प्राण को ही सहारा देता है, जिसमें समस्त बहिर्भूत प्राण होता है, अनन्त रोगों को उस गृह में प्रवेश करने के लिए यह भिषक छोड़ देता है। कोई भी निस्वार्थी वैद्य कुपथ्य करने वाले रोगी की मदद करने के लिए यत्नवान् नहीं होगा।

अतः संकल्प ही एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जो मन प्राण को एकदम पथ्य पर अर्थात् सुपथ पर चलाता रहता है।

● ● ●

योगाभ्यासी के जीवन में संगासंग

– श्री वीरेन्द्रस्वरूप ब्रह्मचारी

वह परासत्ता जब 'एकोऽहं बहुस्याम:' इस संकल्प वाला हुआ तब उसी क्षण सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ हो गई और वह अपने अनन्त रूप प्रकट करने लगा जिससे विभिन्न प्रकार के जड़ एवं चेतन सत्ता की उत्पत्ति होने लगी एवं उस जड़ तथा चेतन के संयोग के परस्पर विभिन्न मात्राओं से विभिन्न–विभिन्न आकृतियां प्रकट होने लगीं जिनमें मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार यही प्रधान उपादान कारण है। इन सभी आकृतियों में मनुष्याकृति सर्वश्रेष्ठ मानी गई क्योंकि सूक्ष्मतम् बुद्धि का विकास मात्र इसी आकृति में पाया गया। यह अपने बौद्धिक विकास के कारण ही शेष आकृतियों का अधिनायक है। यह अपने विचार श्रृंखलाओं के प्रगाढ़ उहापोह से अपनी सृष्टि के रहस्य को तत्वत: जान लेने में समर्थ हो पाता है किन्तु इसके पास उपलब्ध साधन अल्प है। वह एक सीमित क्षेत्र तक ही सहायक बन पाते हैं, किन्तु उस आकृति को अधिष्ठान बनाकर रहने वाली सत्ता तो निस्सीम का अंश होने से निस्सीम ही है और जो सीमा रहित है उसके लिए यदि एक सीमा बना दी जाय तो उसको 'अभाव' की प्रतीति सदैव होती रहेगी क्योंकि उसकी वृत्ति तो निस्सीम ही है अत: उस बाधा को हटाने के लिए वह सतत् प्रयत्नशील रहता है जिससे वह अपने पूरे व्यक्तित्व को प्राप्त कर सके इसी 'अभाव' की पूर्ति के सतत् प्रयत्न को हम 'सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न' इस प्रकार कहते हैं। इसी वस्तुस्थिति को गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्री रामचरितमानस में बतलाया है –

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखराशी।।

यह अविनाशी जीव अमल है किन्तु सत्व, रज और तम रूपी मल उससे बाधक हैं वह सुख राशि है किन्तु सुख की निस्सीमावधि वाला ससीम साधनों से 'अभाव' का ही अनुभव करता है, अल्प सुख का अनुभव करता है। यही आधार भूत कारण है, मनुष्य मस्तिष्क में जिज्ञासा उत्पन्न होने का।

इस प्रकार मनुष्य के अन्दर पूर्ण सुख की प्राप्ति के विभिन्न वस्तु विषयों में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिससे वह उन–उन वस्तुओं को विषय करता है और तदनुकूल बोध ही तद्वस्तुज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मनुष्य के त्वग् और मनः संयोग से उत्पन्न होता है। इस विषय में विद्वत्वरिष्ठ श्री विश्वनाथपंचानन जी ने अपनी न्याय–कारिका में स्पष्ट कह दिया है कि –

त्वचोयोगोमनसाज्ञानकारणम्।
मनोग्राह्यं सुखं दु:खमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः।।

त्वङ्मन:संयोगोज्ञान' सामान्ये कारणम्।

अत: त्वक् इन्द्रिय और मन: संयोग ही किसी वस्तु के सामान्य ज्ञान में कारण होता है और सुख–दु:ख, इच्छा, द्वेष, विचार कार्य यह सभी मन के द्वारा ही अनुभव में आते हैं।

इस प्रकार मनुष्य अपने ज्ञान क्षेत्र को बढ़ाने के लिए विभिन्न वस्तु विषयों की जानकारी प्राप्त करना चाहता है और उसके लिए इतर अनुभवी जनों के सम्पर्क में जाता है और उस असीम सुख को ढूँढता रहता है किन्तु इस क्रिया–कलाप में कभी–कभी वह और भी ससीम और संकीर्ण क्षेत्र वाला बन जाया करता है। जिससे उसका अभाव बाधक रूप दु:ख और भी बढ़ता ही जाता है। इसीलिए सृष्टि के रहस्यों के विज्ञाता आचार्यों ने संगति के प्रभाव को स्पष्टत: कह दिया –

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति तथा स तेषां वशमभ्युपैति।।

(महा. शा. 299)

अर्थात् मनुष्य जिसका संग करता है वह वैसा ही बन जाता है। यदि वह किसी सन्त का संग करता है तो वह सन्त बन जाता है और किसी असाधु पुरुष का साथ किया तो वह असाधु ही बन जायेगा। यदि वह किसी तेजस्वी–तपस्वी का साथ करेगा तो वह तेजस्वी तपस्वी बन जायेगा और यदि वह किसी चोर की संगति करता है तो वह चोर बन जाता है जिस प्रकार से एक वस्त्र जिस रंग के घोल में डुबा दिया जाता है वह उसी रंग से रंग जाया करता है। यदि वस्त्र लाल रंग के घोल में डुबा दिया जाय तो लाल, पीले में पीला, हरे रंग के घोल में डुबाने से हरा हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य भी जिस प्रकार के व्यक्ति का संग करेगा वह वैसा ही बन जायेगा।

किन्तु वह यदि किसी महापुरुष के सम्पर्क में जाता है उनके संग को प्राप्त कर लिया है तो वह अत्यन्त भाग्यशाली है क्योंकि वह अक्षय सुख की निधि है, वहां पूर्ण सुख का वास होता है। वहां अपूर्णता की गन्ध तक नहीं रहती। ऐसे संग को पाकर क्लेश कर्माशय का क्षय हो जाता है और वह अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। उसके जन्म–मरण के कारण समाप्त हो जाया करते हैं। ऐसा साधु संग दुर्लभ है। कोई महान पुण्यात्मा ही ऐसे संग को प्राप्त कर पाता है जो कि संग उसके मोक्ष का कारण बन जाता है।

अत: मनुष्य के जीवन में संग का बहुत बड़ा महत्व है। संग के द्वारा ही वह उत्थान को प्राप्त होता हुआ अक्षय सुख की प्राप्ति कर लेता है और संग के द्वारा ही वह गिरता हुआ नरक में पड़कर महान दुखों को भोगता है। अत: संग करने में बहुत ही सावधान रहने की आवश्यकता है तभी वह संग वास्तविक लाभ उठा पाता है। संग में असावधानी वर्तने पर कहा है कि –

आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽध:।
संगेन योगीकिमुताल्प सिद्धि:।।

अर्थात् योगारूढ व्यक्ति भी दूषित संग के कारण अपने लक्ष्य से च्युत होकर नरक में

जा गिरता है फिर अल्प सफलता प्राप्त व्यक्ति को यदि दूषित संग लग जाय तो आप स्वयं विचार कर लीजिए कि उसकी क्या गति होगी।

भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता के पन्द्रहवें अध्याय में पूर्णत्व प्राप्ति के लिए केवल एक–मात्र ही उपाय पर्याप्त कहा है। उन्होंने कहा कि इस संसार रूपी वृक्ष को यदि समाप्त करके उसका छेदन करके तुम अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर परमपद को प्राप्त करना चाहते हो तो उसके लिए एक ही कुठार है जिसके द्वारा तुम इस संसार बन्धन रूप वृक्ष को काटकर गिरा दोगे और वह है –असंग रूपी कुठार। असंग का तात्पर्य है वस्तु विषय सम्पर्क जन्य बोधभाव। देखिये –

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल–मसङ्गशस्त्रेणदृढेनछित्वा।

ततःपदंतत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्तिभूयः।

अर्थात् इस संसार रूपी पीपल के वृक्ष की जड़ें जीव रूपी पृथ्वी ने अच्छी तरह से जकड़ कर पकड़ रखी हैं – यह सुविरूढमूलम् है इसका छेदन असंग रूपी कुल्हाड़ी से ही सम्भव है, क्योंकि वह बहुत ही मजबूत है, उसके द्वारा संसार रूपी वृक्ष का छेदन करके उस पद को प्राप्त कर लोगे जहां जाकर जीव पुनः इस भवजाल में नहीं पड़ता।

इस प्रकार अपने मन को सर्वथा दुस्संगों से बचाकर सत्संग में लगा लेने पर लक्ष्य–पथ के सभी अन्तराय दूर हो जाते हैं और मनुष्य स्वरूप प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

किन्तु यह असंगत्व हमारे जीवन में किस प्रकार आयेगा, हम किन उपायों का अवलम्ब लें जिससे हमारे जीवन में असंगत्व पूरा–पूरा प्रकट हो जाय। यदि हम इस प्रश्न को अपने मन में धारण कर अपने शास्त्रों पर दृष्टिपात करें तो हमको दीखेगा कि हमारे सभी दर्शन–ग्रन्थों का उद्देश्य ही यही है। हमारा प्रत्येक भारतीय दर्शन हमें असंग बनाने के लिए खड़ा है। पुनः यह विचार आता है कि फिर यह सभी मार्ग एक ही लक्ष्य को पहुँचा रहे हैं तो इनमें वरणीय कौन है किस मार्ग के द्वारा हम सरलतापूर्वक लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे। यदि विचार कर देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि संगासंग का सम्बन्ध मन से होने के कारण मन ही साधने योग्य है, यदि मन का संयमन हो जाय तो असंगत्व सहज ही प्राप्य है क्योंकि संयमित मन को जहां चाहें हम वहीं लगा सकते हैं और जहाँ से हटाना चाहें वहां से सर्वथा पृथक भी कर सकते हैं। असंगत्व की प्राप्ति में मन की महत्ता को श्रुति बार–बार कहती है–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

बन्धाय विषयासक्तं ध्यानं निर्विषयं मनः।।

श्रुति का यह स्पष्ट उपदेश है कि यदि मन को निर्विषय करना चाहते हो – यदि मन को वस्तु विषय से रहित करना चाहते हो असंग करना चाहते हो तो उसके लिए एक ही उपाय है कि ध्यान करो। ध्यानाभ्यास के द्वारा मन में संयमन शक्ति आ जाया करती है और यह ध्यानाभ्यास

योग का एक अंग है जिसका वर्णन योगाचार्य भगवान पतंजलि अपने योगदर्शन में –

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार–धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।।

कहकर योग के आठ अंगों में (ध्यान का वर्णन) किया है। अतः यह सिद्ध हो गया कि यदि मन को असंग करना चाहते हो तो योगाभ्यास करो। योगमार्ग का वरण करो, योग–सिद्धान्तों को समझकर योगाभ्यास कर सर्वथा निःसंग हो जाओ इस प्रकार से निश्चय ही स्वरूपोपलब्धि शीघ्र ही सरलतापूर्वक हो जायेगी।

● ● ●

खोल दो दरवाजा गुरु जी

– जगदीश राए बंसल 'अधम'

लेकर अर्जी तेरे दर पर एक सेवक आया है
खोल दो दरवाजा गुरुजी तेरा सेवक आया है

अलुपुर जन्म लेकर तूने – हरियाणे का नाम किया
प्रभूजी का डंका बजा कर – सिद्ध योग का प्रचार किया
झन्डा ऊँचा देख गुरु का – मन मेरा हर्षाया है ...(1)

अष्टांग योग की शिक्षा देकर – जीवन का उत्थान किया
नित नित जिवन तत्व करा कर – रोगों का निदान किया
बढ़ते कदमों में मुझको – जीवन जोत जलाना है...(2)

दीनों के आप रक्षक हो – जग के पालन वाले हो
धोती कुर्ता धारे हो – क्या–क्या रूप छिपाये हो
दर–दर मैंने खोज लिया – नहीं ऐसा दर पाया है ...(3)

ब्रह्मा और विष्णु तुम हो – साक्षात महा देवा हो
सूर्य और चन्दमा तुम हो – यशोदा के लाल हो
दया की मेहर कर देना – अधम को पार लगाना है ...(4)

● ● ●

योगयुक्त साधक की अवस्था

लेखिका – डॉ. राजकुमारी त्रिखा, 'महाभारत में योग विद्या' से साभार उद्धृत

योगाभ्यास का साधक के शरीर व मन पर अपूर्व प्रभाव पड़ता है। वह समाधि में तो उत्तरोत्तर प्रगति करता ही है, उसका व्यावहारिक जीवन भी अनुपम व अभूतपूर्व हो जाता है। उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी साधारण मनुष्यों से भिन्न व विशिष्ट हो जाता है। इस अध्याय में हम योगियों की निम्नलिखित अवस्थाओं का वर्णन करेंगे।

(क) योगी की समाधिगत अवस्था, (ख) योगी की व्यवहार–कालीन अवस्था,

(ग) योगभ्रष्ट साधक की गति–वर्णन

(क) योगी की समाधिगत अवस्था

योग की उच्च भूमियों में प्रवेश होने पर साधक का मन ध्येय विषय में निमग्न होने पर सांसारिक परिवेश से अनभिज्ञ हो जाता है। उसमें विषयभोगलिप्सा नहीं रहती। समाधि में ही उसे परमानन्द का अनुभव होता है। मन के विक्षेप शान्त होने पर वह समाधिलीन ही रहना चाहता है। योगी का मन उसी प्रकार निश्चल हो जाता है, जिस प्रकार वायुरहित स्थान में जलते हुए दीपक की शिखा (लौ) निश्चल जलती रहती है। उसके आस–पास कितना भी कोलाहल क्यों न मचाया जाये, उसकी समाधि भंग नहीं होती। भीष्म पितामह महाराज युधिष्ठिर को इसी तथ्य का निरूपण करते हुए कहते हैं – जिस प्रकार तृप्त हुआ मनुष्य सुखपूर्वक निद्रामग्न रहता है, उसी प्रकार योगयुक्त पुरुष के मन में भी सदा प्रसन्नता रहती है। वह समाधि में लीन रहना चाहता है, विरत नहीं होना चाहता। यही उसकी प्रसन्नता की पहचान है। जिस प्रकार तैलपूरित दीपक वायुशून्य स्थान में एक तार निश्चलरूप से जलता रहता है, उसकी शिखा स्थिरतापूर्वक ऊपर की ओर उठी रहती है उसी प्रकार समाधिनिष्ठ योगी को मनीषी पुरुष स्थिरमना कहते हैं। जिस प्रकार मेघ द्वारा बरसाई हुई वर्षा की जलबिन्दुओं के आघात से पर्वत नहीं कांपता, उसी प्रकार अनेक प्रकार के विक्षेप भी योगी को विचलित नहीं कर सकते।... उसके समीप बहुत से शंख नगाड़े बजाये जायें, भांति–भांति के गाने गाये जायें, तो भी उसका ध्यान भंग नहीं होता। यही उसकी सुदृढ़ समाधि का लक्षण होता है। यथा मनो–निग्रह–शील व्यक्ति सावधानीपूर्वक हाथों में तेल से भरा कटोरा लेकर सोपानारोहण करे व तभी बहुत से पुरुष हाथ में तलवार लेकर उसे डराने धमकाने लगें, तो वह उनसे भयभीत होकर बूंदमात्र तेल भी पात्र से गिरने नहीं देता, उसी प्रकार योग की उच्च अवस्था को प्राप्त हुआ एकाग्रचित–योगी, इन्द्रियों की स्थिरता तथा मन की अविचल स्थिति के कारण समाधि से विचलित नहीं होता। योगसिद्ध मुनि के ऐसे ही लक्षण समझने चाहिए।

* * *

युक्तस्य तु महाराज लक्षणान्युपधारय।
लक्षणन्तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत्।।
निर्वाते तु यथा दीपो ज्वलेत् स्नेहसमन्वितः।
निश्चलोर्ध्वशिखस्तद्वद् युक्तमाहुर्मनीषिणः।।
पाषाण इव मेघोत्थैर्यथा बिन्दुभिराहतः।
नालं चालयितुं शक्यस्तथा युक्तस्य लक्षणम्।।
शंखदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः।
क्रियमाणैर्न कम्पेत युक्तस्यैतन्निदर्शनम्।।
तैलपात्रं यथा पूर्णं कराभ्यां गृह्य पूरुषः।
सोपानमारुहेद्भीतस्तर्ज्यमानोऽसिपाणिभिः।।
संयतात्मा भयात्तेषां न पात्राद् बिन्दुमुत्सृजेत्।
तत्रैवोत्तरमागम्य एकाग्रमनसस्तथा।।
स्थिरत्वादिन्द्रियाणां तु निश्चलत्वात् तथैव च।
एवं युक्तस्य तु मुनेर्लक्षणान्युपलक्षयेत्।।

– शान्ति. 316.18–24

ऐसी स्थिर व एकाग्र मानसिक स्थिति में उसे अपने शरीर की भी सुध बुध नहीं रहती। वह पर्वत की भाँति स्थिर व काष्ठ की भांति निष्कम्प व पत्थर की भांति अविचल हो जाता है। उसकी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, तथा मन में कोई संकल्प नहीं उठता। ऋषि वसिष्ठ राजा जनक को योगोपदेश देते हुए कहते हैं –

जब योगी मन के द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों को तथा बुद्धि के द्वारा मन को स्थिर करके प्रस्तर समान अविचल, शुष्क काष्ठ की भांति निष्कम्प, तथा पर्वत की भांति स्थिर रहने लगे, तभी शास्त्रज्ञ विद्वान् उसे योगयुक्त कहते हैं। जिस समय योगी न तो कानों से सुनता है, न नासिका से सूंघता है, न स्वाद ग्रहण करता है, न देखता है तथा..... न ही स्पर्श का ही अनुभव करता है, जब उसके मन में किसी प्रकार का संकल्प नहीं उठता तथा वह बाह्य जगत् से संज्ञाशून्य हो जाता है, उस समय मनीषी पुरुष उसे अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त एवं योगयुक्त कहते हैं। वह उस अवस्था में वायुरहित स्थान में जलते हुए निश्चल शिखा वाले दीपक के समान प्रकाशित होता है। उसका लिंग शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। निश्चलता के कारण उसकी ऊपर, नीचे अथवा मध्य में भी कहीं गति नहीं होती।

स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर।
मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाणः इव निश्चलः।।

स्थाणुवच्चाप्यकम्पः स्याद् गिरिवच्चापि निश्चलः।
बुद्ध्या विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते।।
न श्रृणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः।।
न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यति काष्ठवित्।
तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः।।
निर्वाते हि यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते।
निर्लिङ्गोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्यग् गतिमाप्नुयात्।

– शान्ति. 306. 14–18

योगी की इस प्रकार की निश्चल व एकाग्र मानसिक अवस्था की चर्चा महाभारत में अनेक स्थलों पर पाई जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी योगी के निश्चल चित्त की उपमा निर्वात स्थान में निष्कम्प जलती हुई दीपशिखा वाले दीपक से दी गई है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा मता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।

– भीष्म. 30. 18–22 (श्रीमद्भगवद्गीता 6. 18–22)

यह उपमा इतनी सटीक व भावसम्प्रेषण में सक्षम है कि कवि कालिदास ने भी भगवान् शिव के समाधिलीन चित्त की तुलना वायुरहित स्थान में जलने वाली निष्कम्प दीपशिखा से दी है।

अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्।

– कुमारसम्भवम् 3.48

समाधिलीन योगी का शरीर व मन दोनों ही निश्चल रहते हैं।

(ख) योगी की व्यवहारकालीन अवस्था

योगी अपनी योगसाधना के पश्चात् समाधि से उठकर व्युत्थान काल में सामान्य व्यक्तियों के समान जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ, विभिन्न क्रिया–कलाप करता है। परन्तु उसकी प्रत्येक गतिविधि पर साधनाजन्य प्रभाव परिलक्षित होता है। उसका जीवन योगमय ही हो जाता है। अन्य सांसारिक मनुष्यों की भांति वह राग–द्वेष के प्रहारों से जर्जरितमना नहीं होता। उसके काम,क्रोध और लोभ आदि नकारात्मक भावों का साधना द्वारा परिष्कार होता रहता है। वह सांसारिक मानवों के समान विषयभोगों के पीछे नहीं भागता। समाधिजन्य दिव्य आनन्द को प्राप्त कर योगी किसी भी अन्य प्रकार के विषयजन्य आनन्दलाभ को अत्यन्त नगण्य समझता है। उस आनन्दकी स्थिति में वह महान् से महान् दुःख से भी विचलित नहीं होता।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।

– भीष्म. 30.21–22 (श्रीमद्भगवद्गीता 6.21–22)

आश्वमेधिक पर्व में योगी की स्थिति समझाते हुए कहा गया है – सम्पूर्ण प्राणियों का विनाश होने पर भी उसे भय नहीं होता। सबके क्लेश उठाने पर भी उसको किसी से क्लेश नहीं पहुँचता। शान्तचित्त एवं निस्पृह योगी आसक्ति तथा स्नेह से प्राप्त होने वाले भयंकर दुःख शोक तथा भय से विचलित नहीं होता। उसे शस्त्र नहीं बींध सकते। मृत्यु उसके पास नहीं पहुँचती। संसार में उससे अधिक सुखी और कोई नहीं दिखता। वह मन को आत्मा में लीन करके उसी में स्थित हो जाता है, तथा वृद्धावस्था के दुःखों से मुक्त होकर सुखपूर्वक सोता है। वह अक्षय आनन्द का अनुभव करता है। योग का अभ्यासी जब अपने में ही आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह साक्षात् इन्द्र के पद को भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता।

विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते।
विलश्यमानेषु भूतेषु न च क्लिश्यति केन् चित्।।
दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः।
न विचाल्यति युक्तात्मा निःस्पृहः शान्तमानसः।।
नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते।
नातः सुखतरं किञ्चिल्लोके क्वचन दृश्यते।।
सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते।
विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः ...
सम्यग्युक्तो यदाऽऽत्मानमात्मन्येव प्रपश्यति।
तदैव न स्पृहयते साक्षादपि शतक्रतोः।।

– अश्वमे. 19.27–32

ऐसे योगी को मित्र व शत्रु एक समान प्रतीत होते हैं। सुख दुःख में समभाव रहता है। भगवान श्री कृष्ण कहते हैं – उसे सभी प्राणियों में अपनी आत्मा का दर्शन होता है तथा अपनी आत्मा में सभी प्राणियों का।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

– भीष्म. 30.29 (श्रीमद्भगवद्गीता 6.29)

(क्रमशः)

भक्तियोग

– प्रो. ऋषिराम शर्मा

(गतांक से आगे)

संसार का सत्य यही है कि प्रकृति के रूप में परमात्मा की माया से यह पंचभूतादि जड़ सृष्टि प्रकट हुई जैसे कि हमारे चेतन शरीर से अचेतन बाल प्रकट होते हैं। इस जड़ स्थूल सृष्टि के साथ पंच महाभूतों से इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, इन्द्रियों के विषय तथा पंचक्लेशादि सूक्ष्म सृष्टि प्रकट हुई। यह स्थूल तथा सूक्ष्म सृष्टि कूटस्थ तथा सर्वसाक्षी के रूप में परमात्मा के प्रवेश से चेतनमयी बन गयी, जैसे लोहा विद्युत से चुम्बकीय शक्ति पाकर शक्तिवान हो जाता है जिससे सभी विद्युतयुक्त मशीनें अपना – अपना कार्य करने लगती हैं। इस प्रकार हमारे चेतन शरीर कार्यरत तो हो जाते हैं किन्तु चित्त में विद्यमान माया की आवरण शक्ति आत्मा को अपना आलम्बन बनाकर उसे जीवात्मा का भी रूप दे देती है। इस जीवात्मा के माध्यम से माया के प्राणादि अनन्त भाव इस आश्चर्यमय जड़ तथा चेतन जगत के रूप में उदय–अस्त होते रहते हैं। इन रहस्यों को जानने के लिए चित्त में व्याप्त पंचक्लेशादि (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) गुणविकारों को क्षीण करना तथा वैराग्य को पुष्ट करते हुए उसमें समाधिपरिणाम को लाना परमावश्यक है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए क्रियायोग परमावश्यक है जिसके तीन अंग हैं – 1. तप, 2. स्वाध्याय तथा 3. ईश्वरप्रणिधान। इन तीनों अत्यन्त महत्वपूर्ण अंगों पर हम संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। क्रियायोग का प्रथम अंग तप है। तप से स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर दोनों को बल मिलता है। तप की परिभाषा में कहा गया है कि –

द्वन्दसहनं तपः।। *(योगदर्शन)*

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।।
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलकांक्षिभिः युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।।

(गीता /7/17)

अर्थात् शरीर, मन तथा बुद्धि के द्वारा द्वन्दों को सहन करने के कर्म को तप कहते हैं। यह द्वन्द दो प्रकार के हैं। एक तो माया की विक्षेप शक्ति द्वारा संचालित कारण–कार्य रूपी गुणात्मक द्वन्द हैं तथा दूसरे क्लेशादि गुणविकारों द्वारा संचालित मानसिक द्वन्द हैं। इनके प्रभावों को समत्वभाव से सहन करना तपस्या है। इस तपस्या से शक्ति तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता की वृद्धि का अभ्यास भी उत्कृष्ट तप है। यह तप सात्विक होना चाहिए जिसमें परमात्मा के प्रति श्रद्धाभक्ति के साथ केवल परमात्मज्ञान की जिज्ञासा ही होना चाहिए तथा अंशमात्र भी तपस्या के फल के रूप में

किसी भी प्रकार की भोगवासना नहीं होना चाहिए। तप के साधन के रूप में परमात्मा ने हमें शरीर, वाणी तथा मन की सुविधायें प्रदान की है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने हमें गीता में यह संदेश दिया है कि—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्य अहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धि इत्येतत् तपो मानसमुच्यते।।

अर्थात् कर्म करने में शरीर को सर्दी–गर्मी, घातप्रतिघात आदि द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है, मन को सुख–दुःख तथा अनुकूलता–प्रतिकूलता आदि द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है तथा बुद्धि को शुभ–अशुभ, पाप–पुण्य तथा धर्म–अधर्म आदि द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है फिर भी सभी परिस्थितियों में समत्वभाव से प्रसन्नतापूर्वक कर्म कर्तव्यबुद्धि से करते जाना तप है। इसमें देवता, ब्राह्मण, गुरुदेव तथा विद्वानों की सेवा तथा पूजा करना, शौच, सौम्यता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसादि नियमों का पालन शारीरिक तप है, अन्य जीवों को कष्ट न देने वाले वाक्य, सत्य तथा हितकारी भाषा का प्रयोग तथा स्वाध्याय वाणी का तप है। सदैव मन में प्रसन्नता बनाये रखना मौनव्रत का पालन, इन्द्रियों पर विषयों के प्रति रागद्वेष पर नियन्त्रण तथा चित्तशुद्धि के लिए प्रयासरत रहना मानसिक तप है। इन सभी तपों का एकमात्र लक्ष्य अन्तःकरण की शुद्धि है, तभी यह कर्मयोग है।

चित्त को सांसारिक इच्छाओं से मुक्त कर आध्यात्मिक चिन्तन में एकाग्र करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय का परमात्मदर्शन में विशेष योगदान है, क्योंकि शास्त्र का कथन है —

स्वाध्यायात् योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् स्वाध्याय का प्रमुख अंग मन्त्रजप है, क्योंकि जप करने से मन मंत्र में लय होता है, लयता से गुरुशक्ति तथा देवशक्ति चित्त का शुद्धिकरण करती है, शुद्धि से ध्यान–समाधि की योग्यता बढ़ती है और चित्त का योग में प्रवेश होता है। योग से स्वाध्याय पुष्ट होता है। इस प्रकार जब स्वाध्याय तथा योग के संयोग से अन्तःकरण शुद्ध होता जाता है, माया का मलावरण क्षीण होता जाता है तब स्वतः ही रजोगुण तथा तमोगुण पर सतोगुण का आधिपत्य हो जाता है और सतोगुण के प्रकाश में परमात्मा का स्वरूप चित्त में प्रकाशित होने लगता है। क्रियायोग का तीसरा महत्वपूर्ण अंग है 'ईश्वरप्रणिधान' जिसका अर्थ है कि ईश्वर की शरण में आत्मसमर्पण करना। जब कोई अपराधी राजा की शरणागति पा जाता है तब राजा के सैनिक उसे बन्दीगृह में

डालते हैं। ईश्वर राजा है तो माया उसकी सेना, अतः ईश्वर की शरणागति में आये साधक के मायिक बन्धन स्वतः टूट जाते हैं। वेदवाणी इस तथ्य की पुष्टि करती है कि –

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारं अनेकरूपम्।
विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।

(श्वेता. उप. 5/13)

अर्थात् ईश्वर इस संसार का स्रष्टा, भर्ता तथा नियन्ता है जोकि इस मायावी रचना के मध्य अनेक रूपों में अनन्त तथा अनादि है तथा विस्तार वाला होकर सर्वव्याप्त तथा सर्वाधार है। अतः उसकी ही कृपा से जो उसके इस दिव्य स्वरूप को जान लेता है वह माया के बन्धनों से मुक्त होकर अमर हो जाता है। वह ईश्वर कहाँ मिलेगा और उसका ज्ञान कैसे होगा? इस पर वेदवाणी का कथन है –

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः यद्वाचो हि वाचं प्राणस्य प्राणः।
चक्षुसश्च चक्षु अतिमुच्य धीराः प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति।।

(केन उप. 1/2)

सम्प्राप्य एनं ऋषियो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।।

(मुण्डक उप. 3/2/5)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः ये अस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्यो अमृतो भवति अत्र ब्रह्म समुश्नते।।

(कठ. उप. 2/3/14)

अस्ति इत्येव उपलब्धव्यः तत्वभावेन चोभयोः।
अस्ति इत्येव उपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति।।

(कठ. उप. 2/3/13)

अणोरणीयान् महतोमहियान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः धातुः प्रसादात् महिमानमीशम्।।

(श्वेता. उप. 3/20)

अर्थात् प्रत्येक शरीर में ईश्वर वह शक्ति है जिसको हमारे श्रोत्र सुन नहीं सकते अपितु जिससे श्रोत्र सुनने की शक्ति पाते हैं, जिसका हमारा मन मनन नहीं कर सकता अपितु जिसकी शक्ति पाकर मन मनन करता है, जिसके विषय में हमारी वाणी कुछ भी बोल नहीं सकती अपितु जिसकी शक्ति पाकर वाणी बोलती है, जो हमारे प्राणों का भी प्राण है तथा हमारे चक्षुओं का भी चक्षु। जो हमारी बुद्धि की भी बुद्धि है उसको जानने के लिए इन सबके व्यापारों को रोक कर संकल्परहित निर्मल चित्त में उसके ज्योतिर्मय स्वरूप की अनुभूति की जा सकती है, क्योंकि वह

ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम् तथा महान से भी महानतम है और प्रत्येक प्राणी की बुद्धिरुपी गुफा में गुप्त है। जब हृदय में आश्रित सभी कामनारुपी संकल्पों का नाश हो जाता है तब शोकरहित बुद्धि उसी ईश्वर की कृपा से उसके निर्विकल्प महिमामय स्वरूप का अनुभव करती है। उसकी सत्ता की अनुभूति उन ऋषियों को होती है जो ज्ञानविज्ञान से तृप्त हैं, जिनका चित्त गुणातीत स्थिति में स्थित है, जो युक्तयोगी होकर आत्मस्वरूप हो चुके हैं, तत्वभाव में स्थित तत्वज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और जिनका विशुद्ध अन्तःकरण ईश्वर की कृपा से ईश्वर के सर्वव्यापी सच्चिदानन्द स्वरूप से प्रकाशित है। जब तक चित्त में मनोवृत्तियों द्वारा रचित दृश्यजगत है तब तक तो चित्तवृत्तियों का ही ज्ञान रहेगा, परमात्मा का स्वरूप और उसकी महिमा का ज्ञान प्रकट हो ही नहीं सकता। इसका महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट कारण दिया है कि –

चितेः अप्रतिसंक्रमायाः तदाकारोपत्तौस्वबुद्धिसंवेदनम्।।

(योगदर्शन)

अर्थात् आत्मा निर्गुण तथा निष्क्रिय है तथापि बुद्धि के साथ तदाकारता के कारण बुद्धिसम्वेदना से प्रभावित रहती है।

● ● ●

सुखमध्ये स्थितं दुःखं दुःखमध्ये स्थितं सुखम्।
द्वयमन्योन्य-संयुक्तं प्रोच्यते जलपङ्कवत्।।
सुखस्यनन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्तते।।

सुख के भीतर दुःख और दुःख के भीतर सुख समाया रहता है। दोनों जल और कीचड़ की भाँति आपस में मिले रहते हैं।

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् सुख होता है। मनुष्य के सुख-दुःख निरन्तर पहिये की तरह घूमते रहते हैं।

– अध्यात्म रामायण

आश्रम समाचार

वाराणसी शहर में सिद्धयोग प्रचार मण्डल की ओर से 01 नवम्बर, 2012 से 04 नवम्बर, 2012 तक शिविर का आयोजन किया गया। निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार प्रातः 5:00 बजे से ध्यानाभ्यास, 6:00 बजे से 8:00 बजे तक जीवन तत्त्व साधन, योगासन एवं षट्कर्मों का अभ्यास कराया गया।

साढ़े आठ बजे आनन्दकन्द श्री प्रभु जी की आरती होती थी। तत्पश्चात् आचार्य डॉ- दासलाल जी का गीता प्रवचन रहता था। आचार्य श्री गीता के गूढ़ रहस्यों को अत्यन्त सरल भाषा में साधकों को योग सिद्धान्त समझाते हुए पातञ्जल योग सूत्रों का गीता के श्लोकों से सामञ्जस्य दिखलाते थे। दोपहर बाद अम्बाला से पधारे श्री ब्रह्मचारी वीरेन्द्र स्वरूप के योग परक व्याख्या होता था, जो बड़ा हृदय ग्राही होता था। दोपहर बाद ही दिल्ली से आये गुरुमुखदास चिरवानी द्वारा गुरुदेव के संस्मरण सुनने को मिलते थे। साथ ही रायबरेली से आये गुरुभाई श्री सन्तोष शर्मा (बाबा कानपुरी) के स्वरचित दिव्य योग रामायण से श्री प्रभु जी की कथाओं को सुनाया जाता था।

इस शिविर में बाहर के प्रान्तों से भी साधक सैकड़ों की संख्या में आये। हरियाणा, बिहार, मध्य प्रदेश व गंगापुर सिटी के बहुत से साधक सम्मिलित हुए। गुरुभाईयों में विशेष रूप से श्री दशरथ तिवारी, मोहन स्वरूप (गोवर्धन) रामसजीवन इलाहाबाद के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री केशवदेव उपाध्याय के निर्देशन में सारा कार्यक्रम चलता रहा। 4 नवम्बर को भंडारे के साथ ही कार्यक्रम सम्पन्न हुआ और सभी ने भाव-भीनी विदाई ली।

वाराणसी के पास ही टोडरपुर निवासी श्री संजय उर्फ मुन्ना सिंह ने कुछ जमीन आश्रम के निमित्त दान दी है। जहाँ शीघ्र ही आश्रम का निर्माण कराया जाना है।

जय गुरुदेव की।

● ● ●

वेद मानव की प्रार्थना

अवा नो अग्ने ऊतिभिर्गायत्रस्य

प्रभर्मणि विश्वासु धीषु वन्द्य।

आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम्

विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्।

आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं

विश्वायुपोषसम्।

मार्डीकं धेहि जीवसे।।

हे वन्दनीय परमेश्वर! आप, प्राणों के प्राण, शरीर के रक्षण, पालन, भरण–पोषण के अनेक साधनों से हमारी रक्षा कीजिए।

हे परमेश्वर! हमें समस्त विपत्तियों को नष्ट करने वाले सर्वश्रेष्ठ बल–शक्ति की प्राप्ति कराइये, जिसका मनुष्यों और संग्राम में शत्रुओं के लिए पार पाना दुर्गम हो, हमें अपार बल प्रदान कीजिए और अक्षय धन से सम्पन्न कीजिए।

हे परमेश्वर! आप हमें अपने जीवन निर्वाह तथा सभी मनुष्यों के पालन–पोषण के लिए यथेष्ट सुख, आरोग्य प्रदान करने वाला उत्तम ज्ञान तथा प्रचुर मात्रा में अन्न से युक्त कीजिए।

(सामवेद उत्तरार्चिक 14/4/14)

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/2012-14 DECEMBER 2012

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 2/70)

जैसे विभिन्न नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं। वही पुरुष परमशान्ति को प्राप्त होता है। भोगों को चाहने वाला नहीं।

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______________________

____

____

संस्थापक :– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14586 सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) रामलाल शर्मा